CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

103

सारसमुच्चय

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Narla, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्री गणेश प्रसाद वर्णी ग्रंथमाला

श्रीमत् कुलभद्राचार्य विरचित

सारसमुच्चय

हिन्दी-अनुवाद एवं टीका

ब्र. सीतलप्रसादजी

सम्पादक

श्री बाबूलाल सिद्धसेन जैन

4846 ए

–: प्रकाशक :–

श्री गणेश वर्णी दि. जैन संस्थान

नरिया, वाराणसी - २२१००५

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ग्रंथमाला सम्पादक
प्रो. (डॉ.) राजाराम जैन
प्रो. उदयचन्द्र जैन

© श्री गणेश वर्णी दि. जैन संस्थान, वाराणसी

ISBN 01-86957-45-6

वी. नि. संवत् : २५२६
ई. सन् : २०००

प्रथम संस्करण ११०० प्रतियाँ

मूल्य : पच्चीस रुपये मात्र

टाईप सेटिंग–
राजीव प्रिंटर्स, वल्लभविद्यानगर

ऑफसेट मुद्रण :
इन्डिया बाइन्डींग हाउस,
दिल्ली–११००३२

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Shri Ganesh Prasad Varni Granthmala

Shrimat Kulbhadracharya's

Saar Samuchchaya

Hindi - Translation and Commentary

Br. Sital Prasad

Editor

Shri Babulal Siddhasen Jain

4846 E

Publisher

Shri Ganesh Varni Dig. Jain Sansthan

Naria, Varanasi–221005

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Granthmala Editors :
Prof. (Dr.) Rajaram Jain
Prof. Udaichandra Jain

© Shri Ganesh Varni Dig. Jain Sansthan, Varanasi

ISBN 01 - 86957 - 45 - 6

Vir Nirvana Samvat : 2526
Year : 2000 A.D.

First Edition : 1100 Copies

Price : Twenty Five Rupees Only

Type setting by-
Rajiv Printers, Vallabh Vidyanagar

Printed at :
India Binding House,
Man Sarovar Park
Delhi-110032

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रकाशकीय

सारसमुच्चय ग्रंथ का प्रकाशन सर्वप्रथम श्री दि. जैन पुस्तकालय, सूरत से हुआ था। इसका मूल अनुवाद तथा टीकाका कार्य प्रसिद्ध जैन मनीषी ब्र. सीतलप्रसादजीने सन् १९३५ में किया था। कई दशकों से यह पुस्तक अनुपलब्ध रही है। इसके पुनर्प्रकाशन तथा शुद्धिकरण का बीड़ा श्री बाबूलाल सिद्धसेन जैन ने उठाया तथा श्री गणेश वर्णी दि. जैन संस्थान से अनुरोध किया कि वह इसका प्रकाशक बने।

संस्थान की समिति ने यह प्रस्ताव सहर्ष स्वीकार किया। वैराग्य की प्रेरणा देने वाली यह अनुपम कृति पाठकों के समक्ष रखते हुये हमें हार्दिक प्रसन्नता हो रही है। इस महनीय कार्य के लिये श्री बाबूलालजी हार्दिक बधाई के पात्र हैं। साथ ही बम्बई निवासी धर्मानुरागिणी बहन को भी धन्यवाद देते हैं जिन्होंने ग्रंथके प्रकाशन में आर्थिक सहयोग दिया।

रुड़की, १४ नवम्बर २००० डॉ. अशोक जैन

मंत्री

श्री गणेश वर्णी दि.जैन संस्थान

वाराणसी २२१ ००५

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भूमिका

कई वर्ष हुए जब मैंने देहलीमें वर्षाकाल बिताया था तब धर्मपुराके पंचायती व लाला सुगनचंदजीके दिगम्बर जैन मंदिरोंके ग्रंथभण्डारका निरीक्षण किया था। उन्हीं ग्रंथोंमें सारसमुच्चयकी एक प्रति जीर्ण मिली थी जिसकी नकल आलम निवासी छाजूरामजीसे कराकर मैंने वह प्रति श्री माणिकचंद दि० जैन ग्रंथमालाके मंत्री पण्डित नाथूराम प्रेमी बम्बईको भेंट कर दी कि वे इसका प्रकाशन करें। उनको एक प्रति मेरठ छावनीसे लाला मक्खनलालजी खजांची द्वारा भी मिली। दोनों प्रतियोंमें मिलान कर इस ग्रंथका मुद्रण ग्रंथमालाके २१वें नम्बरमें किया गया जिसका नाम है– "सिद्धान्तसारादिसंग्रह"। इसका प्रकाशन विक्रम सं० १९७९ में हुआ था और जहाँ तक मैंने खोज की अब तक इसका भाषानुवाद नहीं हुआ है।

मेरे मनमें वारम्वार यह इच्छा रहती थी कि इसकी भाषाटीका लिख दी जावे तो हिन्दी भाषावालोंको इस सारका आनन्द मिले। इस वर्ष धरणगांव (खानदेश) निवासी मास्टर पोपटरामने यह इच्छा प्रगट की कि उनकी तरफसे कोई ग्रंथ उनके पूज्य पिताकी स्मृतिमें जैनमित्रके पाठकोंको भेंट किया जावे। अतएव मैंने इस ग्रंथका उल्था प्रारंभ किया और आज लखनऊके अहियागंज दि० जैन मंदिरमें उसको पूर्ण किया है। इस ग्रंथमें वैराग्य कूटकूटकर भरा है। इन्द्रियोंके नाशवंत एवं अतृप्तिकारी सुखोंसे उदासीनता लानेके लिए यह ग्रंथ बड़ा ही उपयोगी है।

इसमें आत्मध्यान करनेकी प्रेरणा की गई है और मोक्षके अपूर्व आनन्दके लाभ करनेकी उत्तेजना दी गई है अतः परिणामोंको शुद्ध करनेके लिए इसका पढ़ना बहुत ही उपयोगी होगा। इसके सर्व श्लोक विद्यार्थियों व उपदेशकोंके लिए भी कंठस्थ करने योग्य हैं। कुछ नमूने नीचे दिये जाते हैं। यह श्री कुलभद्राचार्य बड़े अनुभवी आत्मज्ञानी आचार्य थे। पर वे कब हुए इसका कोई पत्ता नहीं चलता है तथापि १००० वर्ष पूर्वके होंगे ही ऐसा रचनापरसे अनुमान होता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नास्ति कामसमो व्याधिर्नास्ति मोहसमो रिपुः ।
नास्ति कोधसमो वह्निर्नास्ति ज्ञानसमं सुखम् ।।२७।।

भावार्थ :– कामभावके समान कोई रोग नहीं है, मोहके बराबर कोई शत्रु नहीं है, क्रोधके समान कोई आग नहीं है और ज्ञानके समान कोई सुख नहीं है ।

जरामरणरोगानां सम्यक्त्वज्ञानभैषजैः ।
शमनं कुरुते यस्तु स च वैद्योऽविधीयते ।।४३।।

भावार्थ :– जो कोई सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानकी औषधिको सेवन कराके जरा मरण रोगोंको शांत कर देता है वही वैद्य कहा गया है ।

अज्ञानी क्षिपयेत्कर्म यज्जन्मशतकोटिभिः ।
तज्ज्ञानी तु त्रिगुप्तात्मा निहन्त्यंतर्मुहूर्त्ततः ।।१८८।।

भावार्थ :– अज्ञानी जितने कर्मोंको करोड़ों जन्मोंमें नाश करेगा उतने कर्मोंको मन, वचन, कायकी गुप्तिको पालनेवाला आत्मज्ञानी एक अंतर्मुहूर्तमें नाश कर सकेगा ।

निर्ममत्वं परं तत्त्वं निर्ममत्वं परं सुखं ।
निर्ममत्वं परं बीजं मोक्षस्य कथितं बुधैः ।।२३४।।

भावार्थ :– ममतारहित भाव परम तत्त्व है । यही परम सुख है, इसीको ज्ञानियोंने मोक्षका उत्तम बीज कहा है ।

संतोषं लोभनाशाय धृतिं च सुखशान्तये ।
ज्ञानं च तपसां वृद्धौ धारयन्ति दिगम्बराः ।।२४८।।

भावार्थ :– दिगम्बर मुनि लोभके नाशके लिए संतोषको, सुख शांतिके लिए धैर्यको और तपकी वृद्धिके लिए ज्ञानको धारते हैं ।

वरं सदैव दारिद्र्यं शीलैश्वर्यसमन्वितम् ।
न तु शीलविहीनानां विभवाश्चक्रवर्तिनः ।।२८२।।

भावार्थ :– शील आदि चारित्रकी सम्पदा जिनके पास है उनको सदा दारिद्र्य रहे तो भी अच्छा है, परन्तु शीलादि चारित्ररहित हो तो चक्रवर्तीकी विभूति भी ठीक नहीं है ।

आत्माधीनं तु यत्सौख्यं तत्सौख्यं वर्णितं बुधैः ।
पराधीनं तु यत् सौख्यं दुःखमेव न तत्सुखं ।।३०१।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थ :– आत्माधीन जो सुख है इसीको ज्ञानियोंने सुख कहा है। पराधीन सुख है वह दुःख ही है, कभी वह सुख नहीं हो सकता।

आत्मा वै सुमहत्तीर्थं यदासौ प्रशमे स्थितः।
यदाऽसौ प्रशमे नास्ति ततस्तीर्थं निरर्थकम् ॥३११॥

भावार्थ :– जब यह आत्मा शांतभावमें ठहरता है तब यही महान् तीर्थ है और जब इसकी स्थिति शांतिमें नहीं रहती है तब तीर्थ करना निरर्थक है। तीर्थयात्रा भी शांतिके लिए की जाती है।

आत्मानं स्नापयेन्नित्यं ज्ञाननीरेण चारुणा।
येन निर्मलतां याति जीवो जन्मान्तरेष्वपि ॥३१४॥

भावार्थ :– अपने आत्माको सदा सुंदर ज्ञानरूपी जलसे स्नान कराना चाहिए जिससे यह आत्मा भवभवके लिए निर्मल हो जावे।

सत्येन शुद्ध्यते वाणी मनो ज्ञानेन शुद्ध्यति।
गुरुशुश्रूषया कायः शुद्धिरेष सनातनः ॥३१७॥

भावार्थ :– वाणी सत्यसे शुद्ध रहती है, मन ज्ञानसे शुद्ध रहता है, शरीर गुरुकी शुश्रूषासे पवित्र होता है, यही सनातन शुद्धि है।

शुभं भूयात्।

लखनऊ
वीर सं० २४६१
संवत १९९२, माघ सुदी २ — ब्र० सीतलप्रसाद
ता. ३१ अगस्त १९३६

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्राक्कथन

श्रीमत्कुलभद्राचार्य-विरचित प्रस्तुत ग्रंथ 'सारसमुच्चय' वैराग्यका अनुपम शास्त्र है। ३२८ श्लोकीय इस ग्रंथका प्रत्येक श्लोक वैराग्यभावको प्रेरित करता है।

पूज्य ब्र. सीतलप्रसादजीकृत अनेकानेक ग्रंथोंकी टीकाओंमें प्रस्तुत 'सारसमुच्चय'की टीका भी सम्मिलित है। उन्होंने यह टीका वीर नि. संवत् २४६१ (ई.सन् १९३५) में दो मासमें ही पूर्ण कर दी थी और उसका प्रथम संस्करण शीघ्र ही वीर नि. सं. २४६२ (ई. सन् १९३६) में दिगम्बर जैन पुस्तकालय, सूरतसे प्रकट हुआ। ३० वर्षों बाद वीर नि. सं. २४९२ (ई. सन् १९६६) में दूसरी आवृत्तिके रूपमें श्रुतरसिक ला० पन्नालालजी आर्किटेक्ट, नयी दिल्लीने श्रीमान् पं० परमानन्दजी शास्त्रीकी देखरेखमें इसे प्रकाशित कराया था। इसको भी आज ३४ वर्ष बीत चुके हैं।

ग्रंथकी उपयोगिताको देखते हुए अब इसका संशोधित नया प्रथम संस्करण श्री गणेश वर्णी दि. जैन संस्थानकी ओरसे प्रकट हो रहा है इसका हमें आनन्द है।

प्रस्तुत संस्करणकी विशेषता यही है कि विभिन्न चार प्रतियोंके मिलानसे परस्पर पाठ संशोधन एवं अन्य अशुद्धियोंका परिमार्जन करनेका प्रयत्न किया गया है। इन चार प्रतियोंमें दिगम्बर जैन पुस्तकालय, सूरतकी प्रथमावृत्ति, ला० पन्नालालजी, नयी दिल्ली द्वारा प्रकाशित द्वितीयावृत्ति, श्रीवर्द्धमानसत्य–नीति–हर्षसूरि जैन ग्रन्थमाला–पुष्प ९ के रूपमें सांडेराव (राजस्थान) से प्रकट की गयी तीसरी प्रति (जो मूलमात्र, खुले पन्नोंमें-शास्त्राकार है और जिसमें आरम्भमें ग्रंथका नाम "वैराग्य सारसमुच्चय" रखकर अन्तमें 'सारसमुच्चय'का ही उल्लेख है) और चौथी प्रति माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमालाके अन्तर्गत ग्रंथक्रमाङ्क–२१ से प्रकाशित 'सिद्धान्त-सारादिसंग्रह'का उपयोग हुआ है। यथास्थान टिप्पणमें आवश्यक पाठान्तर भी दिये गये हैं। ग्रंथमें मुख्यरूपसे श्लोक क्रम १३०, १५२, १९१, २५५, २८७, २८९, ३०५ और ३२६ पर विशेष ध्यान दिया गया है। ग्रन्थके अन्तमें अकारादि वर्णानुक्रमसे श्लोकसूची भी दे दी गयी है। आरम्भमें

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ब्रह्मचारी श्री सीतलप्रसादजीकी भूमिका ज्यौंकी-त्यौं रखी गयी है और विषयसूची तो है ही।

श्री कुलभद्राचार्यका कोई समय या परिचय प्राप्त नहीं होता, फिर भी श्रीमान् ब्र. सीतलप्रसादजीके अभिप्राय अनुसार 'यह बड़े अनुभवी आत्मज्ञानी आचार्य थे। पर वे कब हुए इसका कोई पता नहीं चलता है, तथापि १००० वर्ष पूर्वके होंगे ही ऐसा रचनापरसे अनुमान होता है' ऐसा लिखा है।

पं. दौलतरामजी कासलीवालने इस ग्रंथपर जो वचनिका लिखी है वह वि. सं. १८०५ की है। (देखिए डॉ. नेमिचन्द्रजी शास्त्रीका 'तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य-परम्परा' भाग ४, पृ. २८२) डॉ. कस्तूरचन्दजी कासलीवालने अपने ग्रंथ 'महाकवि दौलतराम कासलीवाल : व्यक्तित्व और कृतित्व[1]' की प्रस्तावनामें वचनिकाके अतिरिक्त इसे 'सार चौबीसी' नाम देकर कविकी पद्यात्मक आध्यात्मिक कृति बताया है; परन्तु यह पद्यात्मक कृति तो १०४ पद्योंमें ही समाप्त हो गयी है जबकि मूल सारसमुच्चय ग्रंथ ३२८ श्लोकोंमें समाविष्ट है। पद्यात्मक कृतिका १०४वाँ अन्तिम दोहा इस प्रकार है –

> सार समुच्चै यह कह्यो, गुरु आज्ञा परवांन।
> आनंद सुत दौलतिनैं, भजि करि श्री भगवान॥१०४॥

(प्रस्तावना पृ. ८२,८३)

इससे लगता है कि पं. दौलतरामजी कासलीवालने भाषा वचनिकाके अतिरिक्त भाषा पद्यमय रचना भी संक्षेपमें अपनी इच्छानुसार लिखी है।

सम्यक् जो भी हो, यह 'सारसमुच्चय'–ग्रंथ एक विशिष्ट रचना तो है ही।

यहाँ प्रसन्नताकी बात है कि ग्रंथप्रकाशनकी प्रेरणामें बोरीवली-मुंबई निवासी एक धर्मानुरागिणी मुमुक्षु बहनका उल्लासपूर्वक अर्थसहयोग भी प्राप्त हुआ है। इन नम्र एवं शांतपरिणामी बहनश्रीका हम हृदयसे आभार मानते हैं और आशा करते हैं कि भविष्यमें भी आपका उत्तम सहयोग श्रुतोद्धारके कार्यमें अवश्य प्राप्त होता रहेगा।

---

१. डॉ. कस्तूरचन्दजी कासलीवालकी प्रस्तावनाका पृ. ४१,४२भी द्रष्टव्य है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इस कार्यकी सम्पन्नतामें हमें प्रत्यक्ष या परोक्ष रूपसे जिनका सहयोग मिला है उनका हम सादर अभिवादन करते हैं।

ग्रंथके मैटर-सेटिंग और प्रूफ-रीडिंगमें श्रुतानुरागी श्री अशोकभाई जैनने अनन्य साथ दिया है अतः वे सचमुच धन्यवादके पात्र हैं।

हमें विश्वास है कि पाठकगण इस श्रुतका शान्तिपूर्वक स्वाध्याय कर पारमार्थिक लाभ उठायेंगे एवं ग्रंथके प्रकाशन सम्पादनमें कहीं कोई त्रुटि रही हो तो उसका निर्देश करते हुए हमें क्षमा प्रदान करेंगे।

—सम्पादक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विषयसूची

क्रम	विषय	पृष्ठ
१	आत्महितकी आवश्यकता	२
२	आत्माके वैरी विषय-कषाय	१२
३	सम्यग्दर्शनका महत्त्व	२०
४	धर्माचारकी प्रेरणा	२९
५	धर्म सुखकारी व तारक है	३४
६	इन्द्रियभोगोंकी असारता	४०
७	कामवासनाकी असारता	४८
८	कामशमनका उपाय	५९
९	स्त्रियोंका स्वरूप	६२
१०	वैराग्य सुखका कारण है	६५
११	चार गतिके दुःख सुख	७२
१२	वैराग्यकी आवश्यकता	७५
१३	चारित्रकी आवश्यकता	९३
१४	उत्तम पात्र साधु	९७
१५	मोक्षमार्ग-पथिक	१०१
१६	ममत्व और परिग्रहत्यागसे लाभ	११०
१७	धनकी असारता	११३
१८	सन्तोषकी महिमा	११४
१९	ध्यानका साधन	११९
२०	ध्यानी जीवकी अङ्गनाएँ	१२२
२१	सत्संगति	१२६
२२	गुण पूज्य होते हैं	१२८

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

२३	काम-क्रोधादि हानिकारक हैं	१३३
२४	कलह व विवाद नहीं करना	१३५
२५	वीतराग-विज्ञानमय मार्ग दुर्लभ है	१३७
२६	स्वाधीन सुख ही सच्चा सुख है	१३९
२७	परिग्रह सुखका बाधक है	१४०
२८	दुःखमें शोच वृथा है	१४१
२९	ज्ञान पानेका फल स्वरूपरमणता है	१४२
३०	सच्चा धन क्या है ?	१४३
३१	लौकिक भोग तृप्तिकारी नहीं	१४३
३२	आत्मा ही सच्चा तीर्थ है	१४४
३३	जलस्नानसे आत्मशुद्धि नहीं	१४४
३४	तत्त्वज्ञानका स्नान सच्चा स्नान है	१४५
३५	शरीर शुचि नहीं हो सकता	१४६
३६	शुद्धि क्या वस्तु है	१४६
३७	मनुष्यजन्मकी सफलतां	१४७
३८	पाप रहित वचन बोलो	१४८
३९	संसार दुःखके क्षयका उपाय	१४८
	अनुवादककी प्रशस्ति	१५१
	अकारादि क्रमसे श्लोक-सूची	१५३

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रीमत् कुलभद्राचार्य विरचित

सारसमुच्चय

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

५४५६ ए

श्रीमद् कुलभद्राचार्य-विरचित

सारसमुच्चय

टीकाकारका मङ्गलाचरण[1]

दोहा

श्री परमातम सकलको, नमहुँ ध्यान चित धार ।
जा प्रसाद शिव-मार्ग-को, लखा भविक भवतार ॥१॥

वर्तमान युग भरतमें, ऋषभादिक महावीर ।
तीर्थंकर चौवीसको, नमहुँ कर्म-क्षय-वीर ॥२॥

निकल सिद्ध परमातमा, सहजानन्द स्वभाव ।
शुद्ध बुद्ध अकलंक थिर, नमहुँ द्रव्य अर भाव ॥३॥

ग्रन्थ-रहित आतमरमी, दीक्षा शिक्षा देत ।
आचारज मुनिराजको, नमहुँ ज्ञान सुख हेत ॥४॥

शास्त्ररमी बहु ज्ञानधर, उपाध्याय मुनिराज ।
दाता आतमज्ञानके, नमहुँ निजातम काज ॥५॥

साधत शिवपथ प्रेमसे, बढ़े जात अध्यात्म ।
मूलोत्तर गुण पालते, नमहुँ साधु शुद्धात्म ॥६॥

जिनवाणी उपकारिणी, शिवमारग दरशात ।
पतितोद्धारक वर धरे, नमहुँ नाय निज गात ॥७॥

सार-समुच्चय ग्रन्थके, कर्ता श्री कुलभद्र ।
नमहुँ परम आचार्यको, लिखूं सार भविभद्र ॥८॥

ग्रन्थकर्ताका मङ्गलाचरण

देवदेवं जिनं नत्वा, भवोद्भवविनाशनम् ।
वक्ष्येऽहं देशनां कांचिन्मतिहीनोऽपि भक्तितः ॥१॥

अन्वयार्थ—(अहं) मैं कुलभद्रआचार्य (भवोद्भवविनाशनम्) संसारके जन्मको नाश करनेवाले (देवदेवं जिनं) देवोंके देव महादेव श्री जिनेन्द्रको (भक्तितः) भक्ति-

---

१. प्रारंभ ता. २६-६-१९३५, वीर संवत २४६१, आषाढ वदी ११ बुधवार, धाराशिवमें ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पूर्वक (नत्वा) नमस्कार करके (मतिहीनोऽपि) बुद्धिमें अल्प होनेपर भी (कांचित्) कुछ (देशनां) उपदेशको (वक्ष्ये) कहूँगा।

भावार्थ—पूजनेयोग्य देव वही है जिसने आत्माके रागद्वेषादि व अज्ञानादि शत्रुओंको जीत लिया हो और अरहंत तथा सिद्धपद प्राप्त कर लिया हो। जिनका आत्मा कर्मकलंकरहित शुद्ध हो गया हो उनकी भक्ति उनको प्रसन्न करनेके लिए नहीं की जाती है किन्तु उच्च आदर्शके स्मरणसे भक्तजनके भाव निर्मल हो जाते हैं, संसार त्यागने योग्य व मोक्ष ग्रहण करने योग्य भासने लगता है, इसलिए उनकी भक्ति की जाती है। श्री कुलभद्र आचार्यने ग्रन्थकी आदिमें निर्विघ्न ग्रन्थ समाप्तिके हेतु और साधक जीव वस्तुतत्त्वके चिन्तनमें लवलीन रहे, इस हेतु मङ्गलाचरण करके धर्मोपदेश लिखनेकी प्रतिज्ञा की है।

आत्महितकी आवश्यकता

संसारे पर्यटन् जंतुर्बहुयोनिसमाकुले।
शारीरं मानसं दुःखं प्राप्नोति बत दारुणं ॥२॥

अन्वयार्थ—(बहुयोनिसमाकुले) नाना योनियोंसे भरे हुए (संसारे) इस संसारमें (पर्यटन्) भ्रमण करता हुआ (जंतुः) जीव (दारुणं) भयानक (शारीरं) शरीर सम्बन्धी (मानसं) व मन सम्बन्धी (दुःखं) कष्टोंको (प्राप्नोति) भोगता रहता है (बत) यह बड़े खेदकी बात है।

भावार्थ—नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देवगतिकी ८४ लाख योनियाँ है। इनमें यह संसारी प्राणी अपने-अपने बाँधे हुए पाप व पुण्यकर्मोंके फलसे आत्मज्ञानको न पाकर, आत्मानन्दकी रुचि प्रगट न कर मात्र पंचेन्द्रियके विषयसुखमें अंध होता हुआ तीव्र मोह-रागद्वेषके कारण असहनीय दुःखोंको पाता है। नरकगतिके भीतर छेदन-भेदनादिके घोर दुःख हैं। तिर्यंचगतिमें भी छेदन-भेदन, भूख-प्यास, भारवहन, हिम, आतप, वध-बन्धनके घोर कष्ट हैं, मानवगतिमें रोगादि, इष्टवियोग, अनिष्टसंयोग व तृष्णाकी दाहके असह्य दुःख हैं। देवगतिमें ईर्ष्या, शोक व तृष्णाका अपार कष्ट है। चारों ही गतियोंमें शरीर सम्बन्धी व मन सम्बन्धी दुःख होते हैं। बड़े-बड़े पुण्यात्मा मानवोंको व देवोंको सामग्री होते हुए भी तृष्णाकी ज्वाला ऐसी असह्य पीड़ा उत्पन्न करती है जिससे वे घोर मानसिक कष्ट भोगते हैं। जो पाँचों इन्द्रियोंके सुखोंको ही सुख जानते हैं ऐसे अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीवोंको चक्रवर्तीपदमें रहते हुए भी सुख-शांति नहीं मिलती है, चाहकी दाहमें जला

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

करते हैं। इन्द्रियोंके भोगोंको जितना भोगो, इच्छा अधिक-अधिक बढ़ती जाती है। इष्ट सामग्री न मिलनेका दुःख, देरसे मिलनेका दुःख, अनुकूल न परिणमनेका दुःख, उसके वियोग होनेका दुःख बना ही रहता है। जो कोई इस असार संसारके सुखोंका दास है उसे इस संसारके किसी भी जन्ममें शारीरिक या मानसिक दुःखोंसे छुटकारा नहीं मिलता है। मरण होता जानकर वह अन्धा प्राणी महान दुःखी होता है। आचार्यने खेद प्रकट किया है कि यह आत्मा है तो स्वयं परमात्माके समान ज्ञाता, द्रष्टा, आनन्दमय, अनंत वीर्यवान; परन्तु अनादिसे ज्ञानावरणादि कर्मोंकी संगतिमें अपनेको ऐसा भूल गया है कि अपने मूल स्वभावकी कुछ भी सुधि नहीं है। जिस शरीरको पाता है उसीमें आसक्त होकर बावलासा होकर मन, वचन, कायकी क्रिया करता रहता है, बारबार दुःख उठाता है, बारबार जन्म-मरण करता है, मिथ्या श्रद्धानके कारण घोर आपत्तियाँ सहता है किन्तु आत्महितकी ओर दृष्टि नहीं करता, इसे अब तो चेतना चाहिए।

आर्त्तध्यानरतो मूढो न करोत्यात्मनो हितं ।
तेनाऽसौ सुमहत्क्लेशं परत्रेह च गच्छति ॥३॥

अन्वयार्थ–(आर्त्तध्यानरतः) आर्त्तध्यानमें लवलीन (मूढः) मोही मिथ्यात्वी जीव (आत्मनो हितं) अपने आत्माका भला (न करोति) नहीं करता है (तेन) इस कारणसे (असौ) वह (परत्र च इह) परलोकमें तथा इस लोकमें (सुमहत् क्लेशं) बहुत भारी दुःखको (गच्छति) प्राप्त करता है।

भावार्थ–जिसको अपने आत्माके स्वरूपका विश्वास नहीं है, जो केवल इन्द्रिय सुखको ही सुख जानता है वह रातदिन विषय-भोगोंके पीछे बावला रहता है, इसीसे चार प्रकारके आर्त्तध्यानोंमें फँसा रहता है, इच्छानुकूल इष्ट पदार्थोंके संयोग न होनेपर किन्तु अनिष्ट पदार्थोंके संयोग हो जानेपर चिंता करता है, यह अनिष्ट-संयोगज आर्त्तध्यान है। इष्ट पदार्थोंके वियोग होनेपर चिन्ता करता है यह इष्टवियोगज आर्त्तध्यान है। शरीरमें रोगादि होनेपर चिन्ता करता है यह पीडाचिन्तवन आर्त्तध्यान है। आगामी भोग-सामग्री मिले ऐसी चिन्ता करता है यह निदान आर्त्तध्यान है। इन क्लेशकारी भावोंसे इस लोकमें भी दुःखमय जीवन बिताता है तथा संक्लेश परिणामोंसे पापकर्म बाँधकर दुर्गतिमें जाकर तीव्र दुःख पाता है तथा आत्माका कुछ भी हित नहीं कर पाता, मानवजन्मको वृथा खोकर एक अपूर्व आत्मोन्नतिके साधनसे चूक जाता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ज्ञानभावनया जीवो लभते हितमात्मनः ।
विनयाचारसम्पन्नो विषयेषु पराङ्मुखः ॥४॥

अन्वयार्थ–(विनयाचारसम्पन्नो) धर्म-विनय व धर्मके आचरणमें लगा हुआ तथा (विषयेषु पराङ्मुखः) पाँच इन्द्रियोंके विषयोंसे उदासीन (जीवः) जीव (ज्ञानभावनया) सम्यग्ज्ञानकी भावना करनेसे (आत्मनः हितं) आत्माका हित (लभते) प्राप्त करता है।

भावार्थ–आत्माका हित सुख-शान्तिका लाभ व कर्म-मलका दूर करना है। इस कार्यको वही ज्ञानी कर सकता है जो देव, शास्त्र, गुरु व धर्ममें आदरसहित भक्ति रखता है व शक्तिके अनुसार धर्मका आचरण पालता है, मुनि व श्रावकके व्रतोंकी साधना करता है तथा जिसके मनमें यह वैराग्य आ गया है कि इन्द्रियसुख सच्चा सुख नहीं है, यह विषतुल्य जीवको अहितकारी है। ऐसा ही ज्ञानी निरंतर इस बातकी भावना भाता है कि मैं निश्चयसे सिद्ध भगवानके समान शुद्ध ज्ञाता-दृष्टा आनन्दमय वीतराग आत्मा हूँ, कर्मका संयोग और शरीरादि सब मुझसे भिन्न हैं। इसी उपायसे सच्चा सुख अनुभवमें आता है व कर्ममल कटता है।

आत्मानं भावयेन्नित्यं ज्ञानेन विनयेन च ।
मा पुनर्म्रियमाणस्य पश्चात्तापो भविष्यति ॥५॥

अन्वयार्थ–(ज्ञानेन) सम्यग्ज्ञान सहित (च विनयेन) और आदर सहित (नित्यं) सदा (आत्मानं) अपने आत्माकी (भावयेत्) भावना करनी चाहिए (मा पुनः) नहीं तो (म्रियमाणस्य पश्चात्) मरनेके बाद (तापः) संताप (भविष्यति) होगा।

भावार्थ–बुद्धिमान मनुष्यका कर्तव्य है कि निरंतर बड़े प्रेमसे भेद-विज्ञान सहित अपने शुद्ध आत्माका बारबार मनन करे। श्री जिनेन्द्रकी भक्ति द्वारा, शास्त्र-स्वाध्याय द्वारा, गुरुसे उपदेशग्रहण द्वारा, सामायिक व ध्यान द्वारा शुद्ध स्वरूपका मनन व अनुभव करे, यही आत्माके हितका कार्य है। जो प्रमादी शरीर, कुटुम्ब, धनादिमें मोही होकर इस कार्यको न करेगा वह आत्माको निरंतर पापबंधसे मलीन करता हुआ अन्तमें मरकर नरक व पशुगतिमें चला जायेगा और महान कष्ट भोगेगा।

तथा च सत्तपः कार्यं ज्ञानसद्भावभावितं ।
यथा विमलतां याति चेतो-रत्नं [1]सुदुर्धरं ॥६॥

अन्वयार्थ–(यथा) जिस प्रकारसे (सुदुर्धरं) यह कठिनतासे प्राप्त होने योग्य

पाठान्तर–१. सुदुर्लभं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(चेतो-रत्नं) आत्मारूपी रत्न (विमलतां याति) निर्मल हो जावे (तथा च) उस प्रकारसे ही (ज्ञानसद्भावभावितं) ज्ञानकी यथार्थ भावना करते हुए (सत्तपः) सच्चा तप (कार्यं) करना योग्य है।

भावार्थ–किसी खानमें रत्नपाषाण था, उसका मिलना कठिन था। जब हाथमें आ गया तो जौहरी उसको बड़े यत्नसे रखकर बड़े भाव व परिश्रमसे उसके मैलको दूर करके उसको चमकता हुआ रत्न बना देता है और अटूट धन कमाता है। वैसे ही आत्माके स्वरूपका ज्ञान होना बहुत कठिन था। जिस किसी ज्ञानीको आत्मज्ञानरूपी रत्न प्राप्त हो गया उसको उचित है कि जिस उपायसे यह आत्मा शीघ्र ही कर्ममैलसे छूटकर शुद्ध हो सके उसी उपायसे इसे शुद्ध करना चाहिए। अपनी शक्तिको न छिपाकर आत्माके शुद्ध स्वरूपकी भावना भाते हुए जिनागमके अनुसार यथार्थ तप करना चाहिए जिससे परिणामोंमें आनंद रहे, शरीरकी व इंद्रियसुखकी आसक्ति दूर हो व मन वशमें रहे। उपवास, ऊनोदर, रस-त्याग, एकांत-सेवन आदि बारह प्रकार तपोंका प्रेमसहित अभ्यास करना चाहिए और आन्तरिक इच्छा-शक्ति तथा कषाय-शक्तिका दमन करना चाहिए । आत्मध्यान द्वारा आत्मानुभवकी प्राप्ति पर लक्ष्य रखना चाहिए। यही सच्चा तप है।

नृजन्मनः फलं सारं यदेतज्ज्ञानसेवनम् ।
अनिगूहितवीर्यस्य संयमस्य च धारणम् ।।७।।

अन्वयार्थ–(नृजन्मनः) मानव जन्मका (एतत् सारं फलं) यही सार फल है (यत्) जो (अनिगूहितवीर्यस्य) अपनी शक्तिको न छिपा कर (संयमस्य धारणम्) संयमको धारण किया जावे (च) और (ज्ञानसेवनम्) आत्मज्ञानकी सेवा की जावे।

भावार्थ–मानव-जन्म पाना बड़ा दुर्लभ है। संयमका साधन, उत्तम धर्मध्यान व शुक्लध्यान इसी जन्मसे हो सकता है। नरक, पशु व देवगतिमें नहीं हो सकता है। इसीलिए इस अपूर्व अवसरको विषयकषायोंमें नहीं खोना चाहिए–इसको सफल कर लेना चाहिए। सफलता तब ही होगी जब संयमको धारणकर आत्मानुभवका अभ्यास किया जायेगा। यदि शक्ति हो तो सर्वपरिग्रहका त्याग कर निर्ग्रंथ साधु हो महाव्रतोंको पालते हुए आत्मध्यानका साधन करे। यदि मुनिसंयमकी शक्ति न हो तो श्रावकके योग्य दर्शन, व्रत आदि ग्यारह संयमकी श्रेणियोंमेंसे किसीको ग्रहण करे। जिस श्रेणीके योग्य चारित्र पालनेकी शक्ति व योग्यता हो उस श्रेणीका चारित्र शुद्ध भावसे पालते हुए निश्चय चारित्र जो स्वरूपाचरण व आत्मा-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नुभवरूप है उसकी उन्नतिपर उद्यमशील रहे। जो मानव आत्माको शुद्ध करनेका साधन करता है वही नरजन्मके समस्त फलको पाता है।

ज्ञानध्यानोपवासैश्च परीषहजयैस्तथा।
शीलसंयमयोगैश्च स्वात्मानं भावयेत् सदा॥८॥

अन्वयार्थ–(ज्ञानध्यानोपवासैश्च) शास्त्रज्ञान, आत्मध्यान तथा उपवास करते हुए (परीषहजयैः तथा) तथा क्षुधा, तृषा आदि परीषहोंको जीतते हुए (शीलसंयमयोगैश्च) शील, संयम तथा योगाभ्यासके साथ (सदा) निरन्तर (स्वात्मानं) अपने आत्माकी (भावयेत्) भावना करे।

भावार्थ–आत्महितके लिए उचित है कि अपने आत्माके मूल शुद्ध स्वरूपका बारबार मनन या अनुभव किया जावे। इस कार्यके लिए शास्त्र-अभ्यास और ध्यान तथा इंद्रियोंपर विजय प्राप्त करनेके लिए एवं शारीरिक व मानसिक विकारोंके शमनके लिए उपवासकी आवश्यकता है। ध्यान करते हुए यदि क्षुधा, तृषा, डांस, मच्छर, शीतादि परीषह सहना पडे तो शांतिसे सहना चाहिए। अपने स्वभावको शीलवान, शांत, मंदकषायी रखना चाहिए तथा अहिंसादि पंचप्रकार चारित्रको पालना चाहिए। इन्द्रिय व मनपर पूर्ण संयम रखना चाहिए तथा नाना प्रकारके आसनोंसे स्थिर होकर योगाभ्यास करना चाहिए। आत्माका मूल स्वभाव परम शुद्ध वीतराग ज्ञानानंदमय अमूर्तिक है। सिद्धोऽहं -शुद्धोऽहं इस प्रकारकी भावना करनी चाहिए।

ज्ञानाभ्यासः सदा कार्यो ध्याने चाध्ययने तथा।
[1]तपसो रक्षणं चैव यदीच्छेद्धितमात्मनः॥९॥

अन्वयार्थ–(यदि) यदि (आत्मनः हितं) आत्माका भला (इच्छेत्) चाहते हो तो (ध्याने) ध्यानमें (तथा च अध्ययने) और शास्त्र पढ़नेमें (ज्ञानाभ्यासः) ज्ञानका अभ्यास (सदा) निरंतर (कार्यः) करते रहो (च तपसः रक्षणं एव) और साथ ही तपकी रक्षा भी करो।

भावार्थ–आत्मज्ञानका अभ्यास ही आत्माके लिए परम हितकारी है। जब तक एकाग्र मन होकर ध्यान हो सके तब तक ध्यानके द्वारा ज्ञानाभ्यास करे, जब ध्यानमें मन न लगे तब आध्यात्मिक शास्त्रोंको मुख्यतासे पढ़े। उपवास, ऊनोदर आदि बारह प्रकार तपोंका भी साधन करता रहे, जिससे इन्द्रिय व मन अपने वशमें रहें एवं कषायोंका शमन रहे और कष्ट सहनेका अभ्यास जमे।

पाठान्तर–१. तपःसंरक्षणं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ज्ञानादित्यो हृदिर्यस्य नित्यमुद्योतकारकः ।
तस्य निर्मलतां याति पंचेन्द्रियदिगङ्गना[1] ॥१०॥

अन्वयार्थ–(यस्य) जिसके (हृदि) मनमें (ज्ञानादित्यः) ज्ञानरूपी सूर्य (नित्यं) सदा (उद्योतकारकः) प्रकाशित रहता है (तस्य) उसकी (पंचेन्द्रियदिगङ्गना) पाँचों इन्द्रियरूपी दिशाएँ जोकि सूर्यकी स्त्रियाँ हैं (निर्मलतां याति) निर्मल रहती हैं– निर्विकारी रहती हैं।

भावार्थ–सूर्यके प्रकाशसे दिशाएँ भी प्रकाशित व निर्मल रहती हैं उनपर अन्धकार नहीं आता है। सूर्य दिशारूपी स्त्रीका पति है, दिशाकी शोभा सूर्यसे है, सूर्यके वियोगसे दिशा अन्धकार-युक्त मलिन हो जाती है, उसी प्रकार पाँच इन्द्रियोंके विकारोंको दूर रखकर उनको शान्त व स्वभावमें काम करनेवाली रखनेके लिए सम्यग्ज्ञानरूपी सूर्यके प्रकाशकी आवश्यकता है। आत्मज्ञान व वैराग्यके प्रतापसे इन्द्रियाँ वशमें रहती हैं। स्पर्शनेन्द्रिय ब्रह्मचर्यमें, जिह्वा-इन्द्रिय रस-नीरस भोजन पाकर संतोषमें, नेत्र शास्त्रावलोकनमें व निर्विकार भावके साथ वर्तनेमें, कर्ण जिनवाणी श्रवणमें, नासिका सुगंध-दुर्गंधमें समभाव रखनेमें समर्थ होती है। मनको कभी बेकाम नहीं रखना चाहिए। आत्मज्ञान व शास्त्र-ज्ञानके अभ्यासमें लगाये रखना आत्महितैषीका परम कर्तव्य है।

एतज्ज्ञानफलं नाम यच्चारित्रोद्यमः सदा ।
क्रियते पापनिर्मुक्तैः साधुसेवापरायणैः ॥११॥

अन्वयार्थ–(एतत्) यही (ज्ञानफलं) ज्ञान पानेका फल (नाम) प्रसिद्ध है (यत्) जो (पापनिर्मुक्तैः) पापोंको त्यागनेवाले (साधुसेवापरायणैः) व साधुओंकी सेवामें लीन महात्मा (चारित्रोद्यमः) चारित्रका पुरुषार्थ (सदा) नित्य (क्रियते) करें।

भावार्थ–शास्त्रज्ञानधारी पण्डित होनेकी सफलता तब ही है जब उस ज्ञानके प्रकाशमें पापोंको पाप जानकर त्याग दिया जावे तथा मन पर अंकुश रखनेके लिए साधुओंकी सेवामें लीन रहकर गुरुकी आज्ञाप्रमाण व उनके निरीक्षणमें मुनि या श्रावकका चारित्र नित्य निर्मलभावसे पाला जावे तथा अंतरंगमें स्वरूपा-चरणका या स्वानुभवका प्रकाश किया जावे। चारित्र पाले बिना ज्ञानका होना निष्फल है। आत्मरमणतासे ही वीतरागता होगी, वीतरागतासे ही स्वात्मानन्द मिलेगा व कर्ममल दूर होगा।

पाठान्तर–१. दिगाननम्।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0. In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सर्वद्वन्द्वं परित्यज्य निभृतेनान्तरात्मना ।
ज्ञानामृतं सदा पेयं चित्ताह्लादनमुत्तमम् ॥१२॥

अन्वयार्थ–(अंतरात्मना) अंतरात्मा सम्यग्दृष्टिको (निभृतेन) निश्चिन्त होकर (सर्वद्वन्द्वं) सर्व सांसारिक उपाधियोंको (परित्यज्य) त्यागकर (चित्ताह्लादनम्) चित्तको आनन्द देनेवाले (उत्तमम्) व श्रेष्ठ (ज्ञानामृतं) आत्मज्ञानसे उत्पन्न अमृतको (सदा पेयं) सदा पीना योग्य है ।

भावार्थ–ज्ञानी सम्यग्दृष्टि महात्माका यही चारित्रपालन है कि वह मनकी आकुलताके कारण सर्व सांसारिक कार्योंका त्याग कर दे। यदि सामर्थ्य हो तो सर्व परिग्रहका त्यागकर मुनि हो जावे; अन्यथा एकदेश श्रावकका चारित्र ग्रहणकर आरंभको त्यागे या घटावे। पूर्ण निश्चिंत होकर एकांतमें बैठ आसन जमा समता-भावके द्वारा शुद्ध आत्माके स्वरूपका अनुभव करे। इसी आत्मध्यानके प्रतापसे अपूर्व आनंद होगा। इस आत्मध्यानके अभ्यासको निरंतर त्रिकाल व द्विकाल व एक काल हर समय ४८ मिनिट तक यथासंभव करना योग्य है। यही चारित्र मोक्षद्वीपमें ले जानेवाला है।

ज्ञानं नाम महारत्नं यन्न प्राप्तं कदाचन ।
संसारे भ्रमता भीमे नानादुःखविधायिनि ॥१३॥

अधुना तत्त्वया प्राप्तं सम्यग्दर्शनसंयुतम् ।
प्रमादं मा पुनः कार्षीर्विषयास्वादलालसः ॥१४॥

अन्वयार्थ–(नानादुःखविधायिनि) अनेक प्रकार शारीरिक और मानसिक कष्टोंको देनेवाले (भीमे) इस भयानक (संसारे) संसारमें (भ्रमता) भ्रमण करते हुए (यत्) जिस (ज्ञानं नाम महारत्नं) सम्यग्ज्ञान नामके महान रत्नको (कदाचन) कभी (न प्राप्तं) नहीं पाया था (त्वया) तूने (अधुना) अब (सम्यग्दर्शनसंयुतं) सम्यग्दर्शन सहित (तत्) उसे (प्राप्तं) पा लिया है (अतएव) इसलिए (पुनः) फिर तू (विषयास्वादलालसः) पाँचों इन्द्रियोंके विषयोंमें लुब्ध होकर प्रमाद व आलस्य (मा कार्षीः) न कर ।

भावार्थ–आत्मा अनात्माके भेदविज्ञान सहित सम्यग्ज्ञानका पाना बड़ा ही दुर्लभ है। असैनी पंचेन्द्रिय पर्यन्तके तो योग्यता ही नहीं है। सैनी पंचेन्द्रिय होकर भी अनंतवार सम्यग्ज्ञान पानेका निमित्त ही नहीं बना। बड़े पुण्यके उदयसे आर्यखण्ड, उत्तम कुलमें जन्म मिला, इन्द्रियोंकी पूर्णता हुई, प्रबल बुद्धि पायी, जिनधर्मके उपदेशका समागम मिला, सात तत्त्वोंको जाना, उनका मनन किया, परिणामोंकी शुद्धता हुई, करणलब्धिका लाभ हुआ,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनन्तानुबंधी चार कषाय और मिथ्यात्व कर्मका उपशम हुआ, तब कहीं प्रथमोपशम सम्यग्दर्शनका लाभ हुआ। सम्यग्दर्शनके प्रकाश बिना शास्त्रोंके द्वारा तत्त्वोंका ठीक-ठीक परिज्ञान होनेपर भी अपने शुद्ध आत्मस्वरूपकी प्रतीति नहीं हो पाती है। सम्यक्-दर्शनके प्रकट होते ही सर्व ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहलाता है। आचार्य कहते हैं कि जिस सम्यग्ज्ञानरूपी महान रत्नको अनादिकालसे अब तक नहीं पाया था वह अब बड़े भारी शुभ योगसे मिल गया है। इस सम्यग्-ज्ञानको महारत्नकी उपमा इसीलिए दी है कि तीन लोककी सम्पत्ति भी इसके सामने तुच्छ है, तथा यह रत्न ऐसा प्रकाशशील है कि इसके उजालेमें अपना शुद्धात्मा भिन्न दीखता है और रागादि भाव-कर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म तथा शरीरादि नोकर्म व सर्व ही अपने आत्मासे बाहरके चेतन व अचेतन पदार्थ भिन्न दीखते हैं। इसीके प्रकाशसे स्वानुभवरूपी सीधे मोक्षमार्गका पता लगता है, जिसपर चलनेसे बहुत शीघ्र निराकुल मोक्षधाममें पहुँच सकता है और भयानक संसारके जन्म, मरण, इष्टवियोग, अनिष्टसंयोग-जनित व तृष्णाकी दाहसे प्राप्त असहनीय दुःखोंसे छूट सकता है। ऐसे अपूर्व सम्यग्ज्ञानको पाकर हे भाई ! यदि तू फिर प्रमाद करेगा, निश्चय तथा व्यवहार सम्यक्चारित्रका पालन नहीं करेगा और पाँचों इन्द्रियोंके भोगोंमें लुभाकर जीवन बिता देगा तो अन्तमें पछताएगा तथा भव-भवमें कष्ट उठाएगा और जब याद आ जायेगा तब पछतावा करेगा कि हा ! मैंने उत्तम अवसरको वृथा खो दिया। काच-खंड़के समान विषयसुखके लोभमें रत्नसमान आत्मानन्दको फेंक दिया।

आत्मानं सततं रक्षेज्ज्ञानध्यानतपोबलैः ।
प्रमादिनोऽस्य जीवस्य शीलरत्नं विलुम्पते ॥१५॥

अन्वयार्थ—अतएव (आत्मानं) अपने आत्माको (ज्ञानध्यानतपोबलैः) शास्त्र-ज्ञान, आत्मध्यान तथा उपवास ऊनोदरादि तपके बलसे (सततं रक्षेत्) सदा विषय-कषायोंसे रक्षित रक्खे क्योंकि (अस्य) इस (प्रमादिनः) प्रमादी आलसी (जीवस्य) जीवका (शीलरत्नं) चारित्ररूपी शीलरत्न (विलुम्पते) लुप्त-विनष्ट हो जाता है।

भावार्थ—जब सम्यग्ज्ञानरूपी अत्यन्त दुर्लभ महारत्न हाथ लग गया है तब विवेकी मानवका कर्तव्य है कि वह शास्त्राभ्यास करता रहे, आत्मध्यान बढ़ाता रहे, तपकी साधना करता रहे, जिससे विषय-कषाय निर्बल हो जावें, रागद्वेष दूर होते जावें, वीतरागविज्ञानमयी भावकी बढ़ती होती जावे। इसी उपायसे आत्माकी इस भयानक संसारसे रक्षा हो सकेगी। यदि आलस्य

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

किया जाएगा तो जो स्वरूपाचरण चारित्ररूपी रत्न सम्यग्दर्शनके साथ प्राप्त हुआ है वह भी चला जायेगा, तथा सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञानरूपी रत्न भी चले जायेंगे। रत्नत्रयको गँवाकर दीर्घकालके लिए पछताना पडेगा।

शीलरत्नं हतं यस्य मोहध्वान्तमुपेयुषः ।
नानादुःखशताकीर्णे नरके पतनं ध्रुवम् ॥१६॥

अन्वयार्थ–(मोहध्वांतं उपेयुषः) मोहरूपी अन्धकारसे ग्रसित (यस्य) जिस किसी प्राणीका (शीलरत्नं) चारित्ररूपी रत्न (हतं) नष्ट हो गया उसका (ध्रुवम्) निश्चयसे (नानादुःखशताकीर्णे) अनेक दुःखोंसे पूर्ण (नरके) नरकमें (पतनं) पतन होगा।

भावार्थ–जो कोई शरीर व इन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्त होकर अपनी आत्मरुचिको व अतीन्द्रिय सुखकी श्रद्धाको गँवा बैठता है, उसका चारित्र मलिन हो जाता है, वह स्वार्थमें अन्धा हो जाता है। रात्रिदिन हिंसानंदी, मृषानंदी, चौर्यानंदी, परिग्रहानंदी रौद्रध्यानमें फँसकर अशुभ भावोंसे नरकायुको बाँधकर महान कष्टोंके समूहसे भरे हुए नरकोंके बिलोंमें पडकर दीर्घ आयु तक महान संकट भोगता रहता है।

यावत् स्वास्थ्यं शरीरस्य यावच्चेन्द्रियसम्मदः ।
तावद्युक्तं तपः कर्तुं वार्द्धक्ये केवलं श्रमः ॥१७॥

अन्वयार्थ–(यावत् च) जब तक (शरीरस्य) शरीरकी (स्वास्थ्यं) तन्दुरस्ती है (यावत् च) और जब तक (इन्द्रियसम्मदः) इन्द्रियोंमें प्रसन्नता है (तावत्) तब तक (तपः) तप करना (युक्तं) उचित है। इच्छाओंका रोकना (वार्द्धक्ये) वृद्धावस्था होने पर (केवलं) मात्र (श्रमः) खेद होगा।

भावार्थ–विवेकी मनुष्यका कर्तव्य है कि मानवगतिको आत्मोन्नतिका मुख्य साधन समझकर बुढ़ापा आनेके पहले ही जब तक शरीरका स्वास्थ्य अच्छा है व पाँचों इन्द्रियोंमें बल है, अंगोपांगमें शक्ति है–अशक्ति नहीं है तब तक आत्मध्यानका अभ्यास कर लेना चाहिए। युवावयको विषयोंके जालमें फँसाकर यह न सोचे कि जब बूढ़ा होऊँगा तब तप कर लूँगा। बुढ़ापेमें इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती है, शरीर निर्बल हो जाता है, भूख-प्यास शीघ्र सताती है उस समय तपके लिए उद्यम करेगा तो भी नहीं कर सकेगा, मनको केवल खेद होगा। इसलिए अवसर नहीं खोना चाहिए। मरणके आनेका कोई समय नियत नहीं है। जितनी जल्दी हो आत्म-शुद्धिका प्रयत्न करना चाहिए।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शुद्धे तपसि सद्वीर्यं ज्ञानं कर्मपरिक्षये ।
उपयोगिधनं पात्रे यस्य याति स पण्डितः ॥१८॥

अन्वयार्थ–(यस्य) जिसका (सत्‌वीर्य) सच्चा पुरुषार्थ (शुद्धे) निर्दोष आत्मज्ञानपूर्वक (तपसि) तपमें है, (ज्ञानं) ज्ञान (कर्म) कर्मोंके (परिक्षये) नाशमें है, (धनं) धन (पात्रे) पात्रके लिए (उपयोगि) उपयोगमें (याति) लगता है (स पण्डितः) वही पण्डित है, बुद्धिमान है।

भावार्थ–आत्मबल व शरीरबलकी सफलता तब ही है जब आत्मज्ञानसहित सच्चा तप साधा जावे। विद्वान-ज्ञानी-शास्त्रज्ञ होनेका महत्त्व तब ही है जब उस सम्यग्ज्ञानसे ऐसा आत्मध्यान किया जावे जो कर्मोंका नाश करे। धनकी सफलता तब ही है जब उसको योग्य पात्रोंमें दान देनेमें खर्च किया जावे। जो इस प्रकार विवेकपूर्वक अपने बलको, ज्ञानको व धनको उपयोगी बनाता रहता है वही पण्डित है।

गुरुशुश्रूषया जन्म चित्तं सद्ध्यानचिन्तया ।
श्रुतं यस्य [1]समे याति विनियोगं स पुण्यभाक् ॥१९॥

अन्वयार्थ–(यस्य) जिसका (जन्म) जन्म (गुरुशुश्रूषया) गुरुकी सेवा करनेमें, (चित्तं) मन (सद्ध्यानचिन्तया) यथार्थ आत्मध्यानके मननमें, (श्रुतं) शास्त्रज्ञान (समे) समताभावमें (विनियोगं याति) काम आता है (स पुण्यभाक्) वही पुण्यात्मा है।

भावार्थ–परमदयालु गुरु जीवोंको सुमार्गमें प्रेरक होते हैं और मोक्षमार्गकी उन्नतिका उपाय बताते हैं। अतएव जो अपना जन्म गुरुभक्तिमें बिताता है और उन्नतिसे पीछे नहीं हटता है, वह बड़ा पुण्यात्मा है। जो इस चंचल मनको विषयकषायोंके झंझटसे रोककर आत्ममननमें व आत्मध्यानकी चेष्टामें लगाता है वह भी पुण्यात्मा है। शास्त्रज्ञान पानेका फल स्याद्वादनयसे वस्तुतत्त्वका विचार है कि जिसके द्वारा आपत्तिमें आकुलता न की जावे, सम्पत्तिमें उन्मत्तभाव न रक्खा जावे, समताभावमें रमा जावे, जगतको नाटकके समान देखकर हर्षविषाद न किया जावे, आत्मसन्मुख बुद्धि रखकर अलिप्त रहा जावे। जो ऐसा पण्डित शास्त्री है वह भी पुण्यात्मा है।

छित्वा स्नेहमयान् पाशान् भित्वा मोहमहार्गलाम् ।
सच्चारित्रसमायुक्तः शूरो मोक्षपथे स्थितः ॥२०॥

अन्वयार्थ–(स्नेहमयान्) रागमयी (पाशान्) फन्दोंको (छित्वा) छेदकर,

पाठान्तर–१. शमे।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(मोहमहार्गलाम्) मोहरूपी महान फाटकको (भित्वा) तोडकर (सच्चारित्रसमायुक्तः) जो सम्यक्चारित्रमें लवलीन है और (मोक्षपथे) मोक्षके मार्गमें (स्थितः) जमा हुआ है (शूरो) वही वीर महात्मा है।

भावार्थ–जैसे बंद किवाडोंमें भीतरकी वस्तु नहीं दीखती है वैसे ही मिथ्यात्वकी आड जब तक रहती है तब तक अपने आत्माका दर्शन नहीं होता है। इसलिए वही वीर योद्धा है जो इस मिथ्यात्वकी आडको तोडकर आत्मदर्शी सम्यक्दृष्टि हो जाता है और जगतके स्नेहके फंदेको छेदकर वैराग्यवान हो जाता है। ज्ञानवैराग्यसे पूर्ण होकर जो सम्यक्चारित्रको पालता हुआ व्यवहार रत्नत्रयके आलम्बनसे स्वात्मानुभवरूपी निश्चय रत्नत्रयमें दृढतासे जमा रहता है वही सच्चा वीर है।[1]

अहो मोहस्य माहात्म्यं विद्वांसो येऽपि मानवाः ।
मुह्यन्ते तेऽपि संसारे कामार्थरतितत्पराः ॥२१॥

अन्वयार्थ– (येऽपि) जो कोई भी (मानवाः) मनुष्य (विद्वांसः) विद्वान हैं (तेऽपि) वे भी (कामार्थरतितत्पराः) काम व धनके स्नेहमें तत्पर रहते हुए (संसारे) इस संसारमें (मुह्यन्ते) मोहित हो जाते हैं यह (अहो) खेद एवं आश्चर्यजनक (मोहस्य माहात्म्यं) मिथ्याभावरूप मोहकी महिमा है ।

भावार्थ–शास्त्रज्ञानरहित, तत्त्वज्ञानरहित मूढ़ प्राणी यदि धनमें व विषयोंकी इच्छाओंमें व कुटुंबमें मोहित होकर आत्महित न करे तो कुछ खेद व आश्चर्यकी बात नहीं मानी जा सकती, परन्तु जो मानव विद्वान है, शास्त्रज्ञ हैं, तत्त्वज्ञानी हैं, वे यदि गृहस्थमें मोही होकर रातदिन धन कमानेमें तथा इन्द्रियोंकी इच्छा पूर्ण करनेमें लगे रहें तो बड़े खेद व आश्चर्यकी बात है। मिथ्यात्वका अन्धेरा जब तक दूर नहीं होता है तब तक सच्चा ज्ञान व वैराग्य नहीं होता है, अतएव इस मिथ्यात्वको दूर करना ही श्रेयस्कर है।

आत्माके वैरी विषय-कषाय

कामः क्रोधस्तथा लोभो रागद्वेषश्च मत्सरः ।
मदो माया तथा मोहः कन्दर्पो दर्प एव च ॥२२॥

१. श्लोक २० के पश्चात् सिद्धांतसारादिसंग्रहके अनुसार एक श्लोक इस प्रकार है :
कर्मणा मोहनीयेन मोहितं सकलं जगत् ।
धन्या मोहं समुत्सार्य तपस्यन्ति महाधियाः ॥१॥
अर्थ–इस मोहनीय कर्मने सकल जगतको मोहित किया है परन्तु वे महाज्ञानी पुरुष धन्य है जो मोहको सम्यक् प्रकारसे हटाकर तपकी आराधना करते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एते हि रिपवो चौरा धर्मसर्वस्वहारिणः ।
एतैर्बंभ्रम्यते जीवः संसारे बहुदुःखदे ॥२३॥

अन्वयार्थ–(कामः) विषयोंकी इच्छा (क्रोधः) क्रोध (तथा लोभः) और लोभ (रागः) रागभाव (द्वेषं च) व द्वेषभाव (मत्सरः) ईर्ष्याभाव (मदो) जाति कुल बल विद्या तपादिकका घमंड (माया) मायाचार (तथा मोहः) और मोह, (कन्दर्पः) कामसेवनकी इच्छा (दर्प एव च) तथा अहंकार भाव (एते) ये (रिपवः) शत्रु ही निश्चयसे (धर्मसर्वस्वहारिणः) धर्मरूपी सर्व धनको हरनेवाले (चौराः) चोर हैं। (एतैः) इन्हींके कारण (जीवः) यह प्राणी (बहुदुःखदे) बहुत दुःखदायक (संसारे) इस संसारमें (बंभ्रम्यते) भ्रमण किया करता है।

भावार्थ–इस आत्माके स्वाभाविक धर्म रत्नत्रयभावको या ज्ञानदर्शन सुख शांति वीर्यादिको नाश करनेवाले विषय-कषाय हैं व मिथ्यात्वभाव है। मोहनीयकर्मके कारण काम, क्रोध, मान, माया, लोभ, ईर्षा आदि अशुद्ध भाव सदा रहते हैं जिनके रहते हुए आत्मिक वीतराग परिणति मानो लुप्त हो जाती है। इसलिए ये सब औपाधिक भाव आत्माके महान वैरी, आत्मधनके हरनेवाले चोर हैं व इन्हींके कारण तीव्र कर्मोंका बन्ध होता है, जिनके फलसे यह प्राणी इस भयानक दुःखदायी संसारमें दीर्घकालसे जन्म मरण करता हुआ चला आ रहा है। इसलिए इस मोहके परिवारको नष्ट करना ही उचित है।

रागद्वेषमयो जीवः [1]कामक्रोधवशे गतः ।
लोभमोहमदाविष्टः संसारे संसरत्यसौ ॥२४॥

अन्वयार्थ–(असौ) यह (जीवः) प्राणी (रागद्वेषमयः) रागी द्वेषी होकर (कामक्रोधवशे गतः) काम व क्रोधके वशमें प्राप्त होता हुआ (लोभमोहमदाविष्टः) तथा लोभ, मोह और घमण्डसे घिरा हुआ (संसारे) इस संसारमें (संसरति) भ्रमण करता है।

भावार्थ–क्रोध, मान, माया, लोभ इस चार कषायोंके उदयके आधीन होकर यह संसारी प्राणी अपने आत्मबलको प्रकट न कर सकनेके कारण विकारी, मोही, रागी, द्वेषी होता हुआ तदनुकूल मनमें विचार करता है, वैसी ही वचनकी प्रवृत्ति करता है, वैसे ही शरीरकी क्रिया करता है। इस अशुभ प्रवृत्तिके कारण तीव्र पाप-कर्म बाँधकर इस संसारमें जन्ममरण करता हुआ भ्रमता है। ये कषाय ही जीवके शत्रु हैं।

पाठान्तर–१. कामक्रोधवशं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सम्यक्त्वज्ञानसम्पन्नो जैनभक्त जितेन्द्रियः ।
लोभमोहमदैस्त्यक्तो मोक्षभागी न संशयः ॥२५॥

अन्वयार्थ–(सम्यक्त्वज्ञानसम्पन्नो) सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञानका धारी (जैनभक्तः) जैनधर्मका भक्त (जितेन्द्रियः) इन्द्रियोंको जीतनेवाला (लोभमोहमदैः त्यक्तः) लोभ, मोह व मदसे रहित जीव (मोक्षभागी) कर्मोंके बंधसे छूट जायेगा (न संशयः) इसमें कोई संशय नहीं है।

भावार्थ–संसारके नाशका उपाय जैनधर्मके यथार्थ तत्त्वोंका श्रद्धान तथा ज्ञान हैं और फिर उस सम्यग्ज्ञानके अनुसार चारित्रका पालना है। साधकको श्री जिनेन्द्रदेव, जिनवाणी, जैन साधु व जैनधर्मकी भावपूर्वक भक्ति करते रहना चाहिए। पाँच इन्द्रियोंको और मनको अपने आधीन रखना चाहिए तथा इस क्षणभंगुर संसारके नाटकमें मोह नहीं करना चाहिए, सांसारिक विभूतिका स्वामी होनेपर भी कोई अहंकार नहीं करना चाहिए और इन्द्र चक्रवर्ती आदि क्षणिक पदोंका लोभ नहीं करना चाहिए। जो सम्यग्दृष्टि ज्ञान व वैराग्य सहित आत्मानुभव करेगा वह अवश्य कर्मबंधसे छूटकर मोक्ष प्राप्त करेगा।

कामक्रोधस्तथा मोहस्त्रयोऽप्येते महाद्विषः ।
एतेन निर्जिता यावत्तावत्सौख्यं कुतो नृणाम् ॥२६॥

अन्वयार्थ–(कामक्रोधः) काम, क्रोध (तथा मोहः) तथा मोह (एते त्रयः अपि) ये तीनों ही (महाद्विषः) इस जीवके महान वैरी हैं। (यावत्) जब तक (एतेन) इन शत्रुओंसे (निर्जिता) मनुष्य पराजित है (तावत्) तब तक (नृणाम्) मानवोंको (सौख्यं) सुख (कुतः) किस तरह हो सकता है ?

भावार्थ–सच्चा सुख आत्माका स्वभाव है। उसका स्वाद तब ही भाता है जब आत्माका स्वभाव निर्मल होता है। यदि आत्माका स्वभाव मिथ्यात्वसे, काम भावसे तथा क्रोध भावसे मलिन हो जाता है तब इन ही कलुषताओंका स्वाद आता है। जैसे पानीमें यदि लवण, नीम, खटाई मिली हो तो लवणका खारा, नीमका कटुक, खटाईका खट्टा स्वाद आयेगा, पानीका निर्मल मिष्ट स्वाद नहीं आयेगा। जो मानव रात-दिन इन तीनों महान शत्रुओंके वशमें रहते हैं उनको आत्मसुख कैसे मिल सकता है ? अतएव इन तीनोंको जीतना चाहिए। वास्तवमें ये बड़े वैरी हैं। मिथ्यात्वसे यह प्राणी अपनेको ही भूल जाता है, कर्मजनित पर्यायमें आपा मान लेता है। कामभावसे अंधा हो, तीव्र विषयभोगमें रत हो शरीरके वीर्यका

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नाशकर व महा रागी हो धर्मको भूल जाता है। क्रोधके आधीन हो बावला होकर बकता है व परके नाशकी चेष्टा करता है। जैसे विषमिश्रित जल पीने योग्य नहीं वैसे इन तीनों भावोंका अनुभव भी योग्य नहीं—यह यहाँ भी आकुलताकारक है व परलोकमें भी दुर्गतिका कारक है।

नास्ति कामसमो व्याधिर्नास्ति मोहसमो रिपुः।
नास्ति क्रोधसमो वह्निर्नास्ति ज्ञानसमं सुखम् ॥२७॥

अन्वयार्थ—(कामसमः) कामके समान (व्याधिः) रोग (नास्ति) नहीं है, (मोहसमो) मोहके समान (रिपुः) शत्रु (नास्ति) नहीं है, (क्रोधसमः) क्रोधके समान (वह्निः) अग्नि (नास्ति) नहीं है। (ज्ञानसमं) ज्ञानके बराबर (सुखं) सुख (नास्ति) नहीं है।

भावार्थ—शरीरमें फोडा, फुंसी, ज्वर, खांसी, अजीर्ण, क्षय, मरी आदि रोग बड़े भयानक हैं परन्तु उनका इलाज हो जाता है तो वे दूर हो जाते हैं। यदि दूर नहीं हुए तो केवल इस वर्तमान नाशवंत शरीरको ही छुडा देते हैं, परलोकमें बुरा नहीं करते हैं; परन्तु कामभावकी वेदना यहाँ भी कष्ट देती है और परलोकमें भी सताती है। इच्छानुकूल विषय न मिलनेपर कष्ट होता है। मिलने पर फिर वियोग हो जानेका कष्ट होता है, तृष्णाकी वृद्धिका कष्ट होता है, तीव्ररागसे कर्म बाँधकर परलोकमें कष्ट पाता है तथा वहाँ भी काम रोग संस्कारवश उठ खड़ा होता है। कामरोग भवभवमें दुःखदायी है, इस कामके समान कोई रोग नहीं। मिथ्यात्वके समान कोई शत्रु नहीं है। जगतमें जानमालका शत्रु शरीर व सम्पत्तिको ही हरता है परन्तु यह मिथ्यात्व नरक निगोद आदिके तुच्छ शरीरमें पटक कर भव-भवमें घोर कष्ट देता है। क्रोध बड़ी भारी अग्नि है। शान्त-भावको व शरीरके रुधिरको जलाती है। दूसरोंको कष्ट देनेके लिए प्रेरित करती है। घोर अनर्थमें प्रवृत्ति कराती है। तीव्र कर्मबंध कराकर परलोकमें दुःख-सागरमें गिरा देती है। आत्मज्ञानसे सच्चा सुख होता है। शास्त्रके भीतर उपयोग रमानेसे भी सुख होता है। आत्मिक सुखका भोग ज्ञानद्वारा होता है। ज्ञानद्वारा सांसारिक सुखदुःखमें समभाव रह सकता है। इसलिए ज्ञानके समान सुख नहीं है ऐसा जानकर इन मोह, काम व क्रोधको जीतकर ज्ञानाभ्यासमें तल्लीन रहना योग्य है।

कषायविषयार्त्तानां देहिनां नास्ति निर्वृतिः।
तेषां च विरमे सौख्यं जायते परमाद्भुतम् ॥२८॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्वयार्थ–(कषायविषयार्त्तानां) चार कषाय और पाँचों इंद्रियोंके विषयोंसे जो पीडित हैं उन (देहिनां) शरीरधारियोंको (निर्वृतिः) मोक्षका लाभ (नास्ति) नहीं हो सकता है (तेषां च) उनके ही (विरमे) छोडने पर (परम अद्‌भुतं) परम आश्चर्यकारी (सौख्यं) सुख (जायते) प्रकट हो जाता है।

भावार्थ–जब तक आत्माके विभाव परिणाम क्रोधादि कषायोंमें विकार एवं मलिनता उत्पन्न कर रहे हैं तथा इन्द्रियोंकी चाहकी दाह जलन उत्पन्न कर रही है तब तक बन्ध बढ़ता जायेगा। रागी, द्वेषी, मोही जीव ही कर्मोंका बंध करता है। ऐसी दशामें मोक्षका होना असंभव है। जब इन विषय-कषायोंका मैल आत्मिक भावसे दूर हो जायेगा तब उसी समय आत्मानंदका स्वाद आयेगा, जिस सुखकी कोई उपमा नहीं दी जा सकती है। इस सुखका ऐसा बढ़िया स्वाद है कि विचारनेसे आश्चर्य होता है।

कषायविषयै[1] रोगैश्चात्मा च पीडितः सदा।
चिकित्स्यतां प्रयत्नेन जिनवाक्सारभैषजैः ॥२९॥

अन्वयार्थ–(कषायविषयै रोगैः च) कषाय और विषयरूपी रोगोंसे ही (च आत्मा) यह आत्मा (सदा पीडितः) सदा कष्ट पा रहा है, इसलिए (जिनवाक्सारभैषजैः) जिनवचनके द्वारा बताई हुई उत्तम औषधियोंसे (प्रयत्नेन) उद्योग करके (चिकित्स्यतां) दवाई करनी उचित है।

भावार्थ–इस अज्ञानी एवं आत्मबल खोये हुए प्राणीको कषायोंका व इन्द्रियके विषयभोगोंकी चाहनाका रोग लगा हुआ है। इसलिए उचित है कि जिनवाणीने जो रत्नत्रय धर्मरूपी औषधि बताई है उसका उद्योग करके सेवन किया जावे, तो शीघ्र ही विषयकषायोंका रोग मिट जायेगा और यह प्राणी स्वास्थ्य लाभ करके सच्चा सुख व शांति प्राप्त कर सकेगा।

विषयोरगदष्टस्य कषायविषमोहितः।
संयमो हि महामंत्रस्त्राता सर्वत्र देहिनाम् ॥३०॥

अन्वयार्थ–(विषयोरगदष्टस्य) जिसको विषयरूपी नागने काटा हो (कषायविषमोहितः) और जो कषायरूपी जहरसे मूर्छित हो (देहिनाम्) ऐसे प्राणियोंके लिए (संयमः हि) संयम ही (महामंत्रः) महामन्त्र है। यह (सर्वत्र) सर्व स्थानोंमें (त्राता) रक्षा करनेवाला है।

भावार्थ–विषयोंकी चाहकी दाहरूपी नागिनसे डँसे हुए प्राणीको लोभादि कषायका तीव्र विष चढ़ जाता है। इस विषके झाड़नेका या जिस

पाठान्तर–१. कषायविषयोरगैश्चात्मा।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कर्मके उदयसे कषायके विषका वेग चढ़ा है उस कषायके अनुभागको या उसके बलको घटाने या क्षय करनेके लिए संयमका साधन ही महामंत्र है। यही उस विषको उतारकर निर्विष करनेवाला है। अतएव हिताकांक्षीको उचित है कि श्रद्धासहित जैसे औषधिका प्रयोग लाभकारी होता है वैसे ही श्रद्धासहित मुनि या श्रावकके संयमकी आराधना करे, महाव्रतों या अणुव्रतोंको पाले, अंतरंगमें मन और इन्द्रियोंको संयमित करके आत्मानुभव करे। यही निश्चय संयम है। यही वह महान मन्त्र है जिससे कषायका सर्व विष उतर जाता है और यह आत्मा परमात्मा हो जाता है। संयम हर स्थानमें विषयनागकी चोटसे बचानेवाला है।

कषाय कलुषो जीवः रागरंजितमानसः ।
चतुर्गतिभवाम्बोधौ भिन्ना नौरिव सीदति ॥३१॥

अन्वयार्थ—(कषायकलुषः जीवः) जो प्राणी कषायोंसे मलिन और कलंकित हो रहा है (रागरंजितमानसः) जिसका मन रागभावसे रंगा हुआ है वह (चतुर्गति-भवाम्बोधौ) चार गतिरूपी संसार समुद्रमें (भिन्ना नौः इव) टूटी हुई नौकाके समान (सीदति) दुःख उठाता है।

भावार्थ—जैसे छिद्र सहित फटी नौकामें पानी भर जाता है तब वह समुद्रमें डाँवाडोल होकर डूबने लगती है व बहुत ही मुसीबतमें आ जाती है वैसे ही इस संसारी प्राणीके राग, द्वेष, मोह भावोंके कारण कर्मोंका बंध हो जाता है जिससे यह नरक, तिर्यंच, मनुष्य, देव चारों ही गतियोंमें कहीं कहीं डावाँडोल होकर फिरता रहता है और तीव्र शारीरिक तथा मानसिक दुःख उठाता है, जिनको स्मरण करनेसे कलेजा काँप जाता है, अतएव उचित है कि इस कषायके विषको शमन किया जावे।

कषायवशगो जीवो कर्म बध्नाति दारुणम् ।
तेनाऽसौ क्लेशमाप्नोति भवकोटिषु [1]दारुणम् ॥३२॥

अन्वयार्थ—(कषायवशगः) कषायोंके आधीन होता हुआ (जीवः) यह जीव (दारुणम्) तीव्र (कर्म) कर्म (बध्नाति) बाँध लेता है (तेन) इसी कारण (असौ) यह जीव (भवकोटिषु) करोडों जन्मोंमें (दारुणम्) महान घोर (क्लेशं) कष्टको (प्राप्नोति) प्राप्त होता है।

भावार्थ—जो अज्ञानी मिथ्यात्वी जीव है वह कषायोंके उदयके अधीन होकर कुदेव, कुधर्म, कुगुरु आदिके आराधनरूप मिथ्यात्वको, जुआ-खेलन, माँस-

पाठान्तर—१. दुस्तरम्।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भक्षण, मदिरापान, चोरी, शिकार, वेश्यासेवन, परस्त्री-सेवन इन व्यसनरूप अन्यायको तथा हिंसा-कारक व रोगवर्धक अभक्ष्य पदार्थोंको सेवन करके न्याय-अन्यायका विचार छोड़कर धन एकत्र करनेमें व विषयभोगकी सामग्री प्राप्त करनेमें मूढ़ हो जाता है, आसक्त हो जाता है, धर्मके पथसे बिलकुल भ्रष्ट हो जाता है। ऐसा जीव तीव्र कर्मोंको बाँधकर उन कर्मोंके उदयसे करोडों कष्टप्रद जन्मोंमें महान असहनीय दुःख भोगता है। एकेंद्रिय पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा वनस्पतिकायमें पराधीनपनेसे जो कष्ट भोगने पडते हैं वे वचन-अगोचर हैं।

कषायविषयैश्चित्तं मिथ्यात्वेन च संयुतम् ।
संसारबीजतां याति विमुक्तं मोक्षबीजताम् ॥३३॥

अन्वयार्थ–(मिथ्यात्वेन) मिथ्यात्व (च कषायविषयैः) और कषाय व विषयोंसे (संयुतम्) ग्रसित (चित्तं) जीव (संसारबीजतां याति) संसारके बीजको बोया करता है। (विमुक्तं) जो इनसे छूट जाता है वह (मोक्षबीजताम्) मोक्षका बीज बोता है।

भावार्थ–वास्तवमें मिथ्यात्वके कारण यह जीव संसारको व संसारके सुखको ही सब कुछ मान लेता है। इस वासनासे अनन्तानुबंधी कषायोंका उदय जागृत रहता है। उसीके प्रभावसे यह विषय-भोगोंका तीव्र लोभी हो जाता है। इस कारण फिर भी निरंतर अनन्तानुबन्धी कषाय तथा मिथ्यात्व कर्मको बाँधा करता है–संसारको बढ़ाता रहता है। इसलिए जो विवेकी इस मिथ्यात्वको व अनन्तानुबंधी कषायको वमन कर देता है वह सम्यग्ज्ञानी होकर कर्मोंकी निर्जरा करता हुआ मोक्षका बीज बोता है। वह मोक्षके फलको कुछ काल पीछे पा सकेगा। इसलिए हिताकांक्षीको योग्य है कि वह इनके उपशमके लिए जिनवाणीको सुने, मनन करे, धारण करे व उसके अनुसार तत्त्वोंपर श्रद्धा लावे व देवपूजा, गुरुभक्ति, शास्त्रस्वाध्याय, संयम, तप, सामायिक व दान इन छः कर्मोंका नित्य पालन करे। यही तत्त्वका मनन वह उपाय है जिससे स्वयं मिथ्यात्वादिका बल क्षीण होता जायेगा और सम्यक्त्वभाव निकट आता जायेगा–संसारका बीज क्षय होगा और मोक्षवृक्षकी वृद्धि होगी।

कषायरहितं सौख्यं इन्द्रियाणां च निग्रहे ।
जायते परमोत्कृष्टमात्मनो भवभेदि यत् ॥३४॥

अन्वयार्थ–(इन्द्रियाणां च) पाँचों इन्द्रियोंके ही निरोध करनेसे (आत्मनो) इस आत्माके (परमोत्कृष्ट) सर्वोत्तम (कषायरहितं) वीतराग (सौख्यं) आनन्द (जायते)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उत्पन्न हो जाता है (यत्) जो (भवभेदि) संसारका छेदक है–विनाशक है।

भावार्थ–ज्ञानोपयोग पाँचों इन्द्रियोंके विषयोंमें लुभाकर अपने आत्माकी ओर नहीं आता है, इसलिए आत्माके स्वाभाविक परम निराकुल वीतराग व श्रेष्ठ आनन्दका लाभ नहीं करता है। यदि यह सर्व इन्द्रियोंके विषयोंसे उपयोग हटा ले और उसे अपने आत्माकी ओर झुका ले तो उसी समय अतीन्द्रिय आनन्दका स्वाद आ जावे। जैसे मिश्रीके स्वादमें रसना द्वारा उपयोगके लगते ही तुरंत मिष्टताका स्वाद आता है, वैसे ही जब आत्मा आत्मस्थ होता है तब ही वीतराग ध्यान उत्पन्न होता है। इस ध्यानसे संसारके कारणभूत कर्मोंका क्षय भी होता है, तथा शुद्धात्मानुभवसे वर्तमानमें स्वात्मानन्द भी मिलता है।

कषायान् शत्रुवत् पश्येद्विषयान् विषवत्तथा ।
मोहं च परमं व्याधिमेवमूचुर्विचक्षणाः ॥३५॥

अन्वयार्थ–(**कषायान्**) चारों कषायोंको (**शत्रुवत्**) रिपुके समान, (**विषयान्**) इन्द्रियोंके विषयोंको (**विषवत्**) विषके बराबर (**तथा**) और (**मोहं च परमं व्याधिं**) मोहको बड़ा भारी रोग (**पश्येत्**) देखना चाहिए (**एवं**) इस तरह (**विचक्षणाः**) प्रवीण ज्ञानीपुरुषोंने (**ऊचुः**) उपदेश दिया है।

भावार्थ–अनुभवशील महात्मा ज्ञानियोंकी यह शिक्षा है कि जो कोई अपना भला चाहता है उसको उचित है कि मिथ्यात्व-भावको भयंकर रोगके समान जानकर उसका शीघ्रसे शीघ्र इलाज करे। क्रोधादि कषायोंको कर्मबंधके कारक जानकर अपना शत्रु समझे, क्योंकि इन्हींके कारण इस प्राणीको संसारमें जन्म मरण करना पडता है तथा इन्द्रियोंके विषयोंको विषके समान देखकर उनका स्पर्श भी न करे। क्योंकि ये विषय सेवनेपर तृष्णाका ऐसा विष फैला देते हैं जो भव-भवमें कष्ट देता है, और यह बिचारा भोला प्राणी संसारके जालमें उलझता ही चला जाता है। फिर अनन्तकालमें भी निकलना दुर्लभ होता जाता है।

कषायविषयैश्चौरै-र्धर्मरत्नं विलुप्यते ।
वैराग्यखड्गधाराभिः शूराः कुर्वन्ति रक्षणम् ॥३६॥

अन्वयार्थ–(**धर्मरत्नं**) यह रत्नत्रयधर्म (**कषायविषयैः**) कषाय तथा विषयरूपी (**चौरैः**) चोरोंसे (**विलुप्यते**) चुराया जाता है किन्तु (**शूराः**) वीर पुरुष (**वैराग्यखड्गधाराभिः**) वैराग्यरूपी तलवारकी धारसे उनको रोककर व निग्रहकर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(रक्षणम् कुर्वन्ति) रत्नत्रयधर्मकी रक्षा करते हैं।

भावार्थ–सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र रत्नत्रय धर्म है। निश्चयसे यह आत्मानुभवरूप है। यह आत्माका स्वभाव ही है। इसको कषायोंने और विषयोंने ऐसा छिपा दिया है कि इस धर्मरत्नका पता ही नहीं चलता। वही सच्चा योद्धा है जो आकिंचन्य धर्मरूपी खड्ग लेकर उसका ऐसा तीव्र प्रहार विषय-कषायरूपी चोरों पर करता है कि वे घायल होकर भाग जाते हैं और रत्नत्रय धर्मकी रक्षा हो जाती है। इस जगतमें मेरा कुछ नहीं है, मेरा किसीसे कोई सम्बन्ध नहीं है ऐसा भाव आकिंचन्य धर्म है। यही भाव परम वैराग्यकी खड्ग है।

सम्यग्दर्शनका महत्त्व

कषायकर्षणं कृत्वा विषयाणामसेवनम्।
एतद् भो मानवाः! पथ्यं सम्यग्दर्शनमुत्तमम्॥३७॥

अन्वयार्थ–(भो मानवाः) हे मानवो! (कषायकर्षणं) कषायोंको कम (कृत्वा) करके (विषयाणां) पंचेन्द्रियके विषयोंका (असेवनम्) सेवन नहीं करना (एतत् पथ्यं) इसका पथ्य या हितकारी उपाय (उत्तमं) उत्तम निर्दोष (सम्यग्दर्शनं) सम्यग्दर्शन है।

भावार्थ–विषयकषायोंको दूर करनेके लिए पथ्यके समान उपाय निर्दोष सम्यग्दर्शन है। जब निश्चय सम्यग्दर्शन प्रगट हो जाता है तब आत्मप्रतीति हो जाती है कि मेरा आत्मा मूलमें परमात्माके समान ज्ञात दृष्टा अविनाशी है तथा सच्चा सुख मुझे स्वतंत्रतासे अपने ही आत्माके अनुभवसे प्राप्त हो सकता है; और विषयसुख खारा पानी पीनेके समान विषय-चाहको शमन नहीं करता है, प्रत्युत बढ़ा देता है। यही श्रद्धा कषायोंका अनुभाग या बल कम करती हुई उनको कृष करती हुई चली जाती है। जैसे-जैसे कषाय मंद होते हैं वैसे वैसे ही विषयभोगोंके सेवनकी प्रवृत्ति कम होती जाती है। आचार्य कहते हैं कि हे मानवो! इस सम्यग्दर्शनका प्रकाश करो और इसको यत्नसे रक्खो।

कषायातपतप्तानां विषयामयमोहिनाम्।
संयोगायोगखिन्नानां सम्यक्त्वं परमं हितम्॥३८॥

अन्वयार्थ–(कषायातपतप्तानां) जो प्राणी कषायोंके आतापसे जल रहे हैं (विषयामयमोहिनाम्) वही विषयरूपी रोगसे या विषसे मूर्छित है तथा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(संयोगायोगखिन्नानां) जो अनिष्टसंयोग व इष्टवियोगसे दुःखित है उनके लिए (सम्यक्त्वं) यह सम्यग्दर्शन (परमं हितम्) परम हितकारी है।

भावार्थ—तीव्र गर्मीके आतापसे पीडितको शीतल जलका सरोवर मिलना व उसमें स्नान करना जैसे हितकारी है वैसे क्रोधादि कषायोंका आताप अपने आत्माके शुद्ध शान्त आनंदमय सरोवरमें स्नान करनेसे शमन हो जाता है। जैसे विषको दूर करनेके लिए अमृत जड़ीका सेवन हितकारी है वैसे विषयोंकी चाह अतीन्द्रिय आत्मानंदरूपी अमृतके पानसे बुझ जाती है। कर्मोंके उदयसे अनिष्टका संयोग और इष्ट स्त्री-पुत्र मित्रादिका वियोग होता है उसकी चिन्ता शुद्धात्माके मननकी शांत हवा लगनेसे मिट जाती है। अतएव आत्मप्रतीतिरूप सम्यग्दर्शन विषय-कषायोंके दूर करनेका सबसे बड़ा उपाय है।

वरं नरकवासोऽपि सम्यक्त्वेन समायुतः।
न तु सम्यक्त्वहीनस्य निवासो दिवि राजते ॥३९॥

अन्वयार्थ—(सम्यक्त्वेन) सम्यग्दर्शनसे (समायुतः) विभूषित जीवको (नरकवासः) नरकका वास (अपि) भी (वरं) अच्छा है। (तु) परन्तु (सम्यक्त्वहीनस्य) सम्यग्दर्शन रहितका (दिवि) स्वर्गमें (निवासो) रहना (न राजते) नहीं शोभता है।

भावार्थ—क्योंकि विषयभोगोंसे तृप्ति नहीं आती, आकुलता नहीं मिटती, इसलिए स्वर्गोंके देवोपुनीत भोग सुखकी तृष्णाकी दाह नहीं दूर कर सकते, वहाँ बाहरी सुखसामग्री रहते हुए भी अन्तरङ्गमें क्लेशभाव है, आर्त्तध्यान है, जबकि नरकमें यद्यपि बाहरी बहुत कष्ट है तथापि अन्तरङ्गमें सम्यग्दर्शन होनेसे उस नारकीको निज आत्माके आनन्दका स्वाद आता है। इससे वह परम संतोषी व सुखी है। नरकमें अशुभके उदयको वह स्वकृत कर्मकी निर्जरा समझके संतोषसे भोग लेता है। नरकमें रहते हुए भी सम्यग्दृष्टि मोक्षमार्गी है जबकि स्वर्गवासी देव मिथ्यादृष्टि संसारमार्गी है। स्वर्गसे आकर एकेन्द्रिय पंचेन्द्रिय व तिर्यंचके तुच्छ प्राणीके रूपमें जन्मता है जबकि नरकसे निकल कर सम्यग्दृष्टि तीर्थंकर तक हो जाता है। सम्यग्दर्शन एक अपूर्व रत्न है। जिसके हाथ लग गया, वह मानो परमात्मा ही हो गया।

सम्यक्त्वं परमं रत्नं शङ्कादिमलवर्जितम्।
संसारदुःखदारिद्र्यं नाशयेत्सुविनिश्चितम् ॥४०॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्वयार्थ–(शंकादिमलवर्जितम्) शंका कांक्षा आदि आठ मुख्य दोषोंसे रहित (सम्यक्त्वं) यह सम्यग्दर्शन (परमं रत्नं) परम रत्न है, (संसारदुःखदारिद्र्यं) संसारके दुःखरूपी दारिद्र्यको यह (सुविनिश्चितम्) निश्चयसे (नाशयेत्) नाश कर देता है।

भावार्थ–जैसे किसी दरिद्री मानवको निर्दोष रत्न मिल जावे तो वह उसे बेचकर लक्षपति करोड़पति हो जाता है वैसे जिस किसीको सम्यग्दर्शनरूपी रत्न मिल जाता है वह सर्व सांसारिक कष्टोंको मेटकर परमसुखी हो जाता है। उसकी अनादिकालसे चली आयी तृष्णाकी प्यास मिट जाती है। जैसे जंगलमें मृगको पानी न मिलनेसे भ्रमसे पानीको झलकानेवाली घास मृगकी तृषाको शमन नहीं करती है वैसे भ्रमसे माना हुआ विषयसुख मिथ्यात्वीकी तृष्णाको शमन नहीं कर सकता है। सच्चा पानी मिलनेसे जैसे हिरन तृप्त हो जाता है वैसे आत्मसुख मिलनेसे सम्यग्दृष्टि परमसंतोषी रहता है। जगतमें सम्यग्दर्शनके समान कोई अमूल्य रत्न नहीं है। इस सम्यग्दर्शनको व्यवहारमें आठ अंग सहित पालना चाहिए तब उसके विरोधी आठ मल नहीं रहेंगे।

१. निशंकित–सात तत्त्वोंमें देव, शास्त्र और गुरुमें दृढ श्रद्धा रखना और निर्भय हो सत्य मोक्षमार्ग पर चलना।

२. निःकांक्षित–विषय सुखको पराधीन, दुःखका बीज व संसारका भ्रमानेवाला समझना।

३. निर्विचिकित्सा–दुःखी अनाथ रोगी दरिद्री नीचको देखकर घृणा न करना, दयाभाव रखना।

४. अमूढदृष्टि–मूर्खतासे देखादेखी किसी देव शास्त्र गुरु व धर्मकी सेवा न करना।

५. उपगूहन–परनिन्दाको परदोषग्रहण स्वभाव न रखकर परको सुधारनेका भाव रखना व अपने अवगुण टाल कर गुणोंको बढाना।

६. स्थितिकरण–अपना मन धर्मसेवनसे शिथिल होता हो तो दृढ करना व दूसरोंको उपदेश देकर सहायता करके धर्ममें दृढ करना।

७. वात्सल्य–धर्मात्माओंके साथ गोवच्छके समान प्रेम रखना।

८. प्रभावना–जैनधर्मका प्रकाश करके अज्ञान व मिथ्यात्व मेटना।

इस आठ अंगोंको जो व्यवहारमें पालता है, उसके मनमें सच्ची आत्मप्रतीति होती है, उसका सम्यक्त्व निर्मल है ऐसा प्रकट होता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सम्यक्त्वेन हि युक्तस्य ध्रुवं निर्वाणसङ्गमः ।
मिथ्यादृशोऽस्य जीवस्य संसारे भ्रमणं सदा ॥४१॥

अन्वयार्थ–(सम्यक्त्वेन हि युक्तस्य) जो भव्य जीव सम्यक्दृष्टि है उसको (ध्रुवं) निश्चयसे (निर्वाणसङ्गमः) निर्वाणका लाभ होगा और (अस्य) इस (मिथ्यादृशः जीवस्य) मिथ्यादृष्टि जीवका (सदा) हमेशा (संसारे) इस संसारमें (भ्रमणं) भ्रमण रहेगा।

भावार्थ–सम्यक्दृष्टि जीव उसे ही कहते हैं जिसने यह दृढ निश्चय कर लिया है कि मैं स्वयं निश्चयसे मोक्षस्वरूप हूँ, मैं स्वयं सिद्धसम शुद्ध हूँ तथा यह कर्मयोग मेरे स्वभावका घातक है, इसे अवश्य दूर कर ही देना चाहिए। बस इस आत्मानुभवरूपी मसालेको रगड़कर अपने आत्मारूपी वस्त्रको अवश्य शुद्ध करके कभी न कभी बहुत शीघ्र मुक्त हो जायेगा। विवेकी जीव मलिन वस्त्रको देखकर तुर्त उसको शुद्ध कर डालते हैं। मिथ्यादृष्टिको न मोक्षकी और न ही मोक्षमार्गकी श्रद्धा होती है। वह संसारके क्षणिक सुखको ही सुख मानता है। इसलिए धनधान्यादि पर-पदार्थोंके संग्रहमें आसक्त रहता है। वह कभी संसारसे पार नहीं हो सकता। वह तो पाप-पुण्यके अनुसार इस भयानक संसार-वनमें भटकता ही रहेगा।

पण्डितोऽसौ विनीतोऽसौ धर्मज्ञः प्रियदर्शनः ।
यः सदाचारसम्पन्नः सम्यक्त्वदृढमानसः ॥४२॥

अन्वयार्थ–(यः) जो कोई (सम्यक्त्वदृढमानसः) सम्यग्दर्शनको दृढतासे रखनेवाला है (सदाचारसम्पन्नः) और सदाचारमें चलनेवाला है (असौ) वही (पण्डितः) पण्डित है (असौ) वही (विनीतो) विनयवान है, (प्रियदर्शनः) वही प्रेमसे दर्शनयोग्य है, (धर्मज्ञः) वही धर्मका माननेवाला है।

भावार्थ–पण्डित वही है जिसके पण्डा अर्थात् भेदविज्ञान है। जो आत्मतत्त्वको परसे भिन्न समझकर उसका परम प्रेमी है अर्थात् सम्यग्दृष्टि है और फिर श्रद्धानुकूल मोक्षमार्गमें चलनेवाला है। केवल शास्त्रोंका ज्ञाता पण्डित नहीं है। विनयवान शिष्य भी वही है जो सम्यग्दर्शन और चारित्रकी बड़ी भक्ति करता है। वही सत्पुरुष दर्शनयोग्य है जिसके भावोंमें सम्यग्दर्शन और चारित्र प्रकाशमान है। धर्मका ज्ञाता भी वही है जो भले प्रकार आत्मतत्त्वको जानकर उसका स्वाद लेता है। सम्यग्दर्शनके बिना न कोई पण्डित हो सकता है, न भक्त, न दर्शनीय और न धर्मज्ञाता ही हो सकता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जरामरणरोगानां[1] सम्यक्त्वज्ञानभेषजैः ।
शमनं[2] कुरुते यस्तु स च वैद्यो विधीयते ।।४३।।

अन्वयार्थ–(यः तुः) जो कोई (सम्यकृत्वज्ञानभेषजैः) सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानरूपी औषधियोंसे (जरामरणरोगानां) जरामरणरूपी रोगोंको (शमनं कुरुते) दूर करता है (स च) वही (वैद्यः) वैद्य (विधीयते) कहा जाता है ।

भावार्थ–शरीर क्षणभंगुर है। इसके रोगोंको शांत करनेवाला जडवैद्य है। यथार्थ तत्त्वसे वैद्य नहीं है। सच्चा वैद्य वही है जो आत्मज्ञानकी औषधि सेवन करके अपने भी अनादि कालके पीछे लगे हुए जन्मजरा-मरणरूपी रोगोंको दूर करता है और दूसरोंको भी आत्मज्ञानकी औषधि बताकर उनके रोग मिटाता है। जन्मजरामरणके समान कोई भी भयंकर रोग नहीं है। इनके दूर करानेकी दवा रत्नत्रय धर्म है। उनमें भी सम्यग्दर्शन सहित आत्मज्ञान प्रधान है। इसका प्रयोग करनेवाला ही तत्त्वज्ञानी वैद्य है।

जन्मान्तरार्जितं कर्मं सम्यक्त्वज्ञानसंयमैः ।
निराकर्तुं सदा युक्तमपूर्वं च निरोधनम् ।।४४।।

अन्वयार्थ–(सम्यक्त्वज्ञानसंयमैः) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्-चारित्रके द्वारा (जन्मान्तरार्जितं) जन्म जन्ममें संचित किये हुए (कर्मं) कर्मोंको (सदा) नित्य ही (निराकर्तुं) दूर करना (च अपूर्वं) तथा आगामी आनेवाले कर्मोंको (निरोधनम्) रोकना (युक्तं) योग्य है ।

भावार्थ–बिना भोगे कर्मोंकी स्थिति व अनुभाग शक्ति घटाकर आत्माके प्रदेशोंसे छुड़ा देना अविपाक निर्जरा है तथा नवीन आनेवाले कर्मोंको न आने देना संवर है। संवर व निर्जरा दोनोंका उपाय आत्मध्यान है। इसीको निश्चय सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रकी एकता कहते हैं। आत्म-ध्यानकी अग्निसे कर्म जलते हैं व नवीन नहीं आते। अतएव सम्यग्दर्शनके प्रतापसे आत्माको शुद्ध कर लेना योग्य है। क्योंकि इसके बिना ज्ञान व चारित्र कुज्ञान व कुचारित्र हैं ।

सम्यक्त्वं भावयेत् क्षिप्रं सज्ज्ञानं चरणं तथा ।
कृच्छात्सुचरितं प्राप्तं नृत्वं याति निरर्थकम् ।।४५।।

अन्वयार्थ–(क्षिप्रं) शीघ्र ही (सम्यक्त्वं) सम्यग्दर्शनकी, (सज्ज्ञानं) सम्यग्ज्ञानकी (तथा चरणं) तथा सम्यकूचारित्रकी (भावयेत्) भावना करनी योग्य

पाठान्तर–१. रोगाणां । २. संयमं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है। (कृच्छात्) बड़ी कठिनतासे (सुचरितं) व भले चारित्रके पालनेसे (प्राप्तं) पाया हुआ (नृत्वं) यह मनुष्य जन्म (निरर्थकं) वृथा (याति) चला जा रहा है।

भावार्थ–रत्नत्रय सहित आत्मध्यानका अभ्यास हमको शीघ्र ही आरम्भ कर देना चाहिए। फिर कर लेंगे ऐसा प्रमाद न करना चाहिए। क्योंकि एक तो बड़े भारी पुण्यके उदयसे बड़ी कठिनतासे यह मनुष्यजन्म प्राप्त हुआ है, जिस जन्ममें ही संयमका आराधन हो सकता है। अन्य तीन गतियोंमें संयम नहीं हो सकता, कर्मनिर्जरा करनेवाला पूर्ण ध्यान नहीं हो सकता। दूसरे इस कर्मभूमिमें मनुष्य जन्मकी स्थिति भी बनी रहनेका नियम नहीं है, अकाल मरण हो सकता है। इसलिए एक घडी वृथा न खोकर निरंतर आत्मज्ञान सहित ध्यानका अभ्यास करके इस नर जन्मको सफल कर लेना चाहिए। जो रत्नत्रय धर्मका साधन नहीं करते हैं वे इस जन्मको वृथा खोते हैं।

अतीतेनापि कालेन यन्न प्राप्तं कदाचन ।
तदिदानीं त्वया प्राप्तं सम्यग्दर्शनमुत्तमम् ॥४६॥

अन्वयार्थ–(अतीतेन कालेन) भूतकालमें (कदाचन अपि) कभी भी (यत् न) जिसे नहीं (प्राप्तं) पाया था (तत्) उस (उत्तमम्) श्रेष्ठ (सम्यग्दर्शनं) सम्यग्दर्शनको (त्वया) तूने (इदानीं) अब (प्राप्तं) पा लिया है।

भावार्थ–सम्यग्दर्शन खेवटिया है, भवसागरसे पार करने-वाला है। यदि यह मिल गया होता तो भूतकालमें इस संसार-सागरमें भटकना नहीं पडता। यही सीधे मोक्षद्वीपमें ले जानेवाला है। बड़े ही शुभ संयोगसे अब जो इस सम्यग्दर्शनको प्राप्त कर लिया गया तो इसको अमूल्य लाभ हुआ समझकर इसकी दृढतासे रक्षा करनी चाहिए। इस आत्मश्रद्धासहित आगम ज्ञानको बढ़ाते हुए जितना जितना कषायोंका रस मन्द होता जायेगा उतना-उतना चारित्रको धारते हुए आत्मशुद्धिका प्रयत्न प्रमाद छोडकर कर लेना श्रेयस्कर होगा। अवसर चूकने पर पछताना पडेगा।

उत्तमे जन्मनि प्राप्ते चारित्रं कुरु यत्नतः ।
सद्धर्मे च परां भक्तिं शमे च परमां रतिम् ॥४७॥

अन्वयार्थ–हे जीव! तुझे (उत्तमे) श्रेष्ठ (जन्मनि) जन्म (प्राप्ते) प्राप्त हुआ है इसलिए (यत्नतः) पुरुषार्थ करके (चारित्रं कुरु) चारित्रको पाल (च) तथा (सद्धर्मे) सच्चे धर्ममें (परां) उत्तम (भक्तिं) भक्ति कर (च शमे) और शांतभावमें (परमां रतिम्) परम प्रीति कर।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थ–मानव जन्मके समान कोई उत्तम जन्म नहीं है। ऐसे दुर्लभ जन्मको पाकर बुद्धिमान मानव वही है जो उसको सफल करे। अतएव सम्यग्दर्शनपूर्वक मुनि या श्रावकका चारित्र शक्तिके अनुसार पालना चाहिए, रत्नत्रयमयी धर्ममें दृढ भक्ति रखनी चाहिए तथा रागद्वेष छोडकर वीतरागभावमें रत रहना चाहिए। आत्मानुभवके अभ्याससे वीतरागभाव होता है। इसलिए निरंतर आत्म-चिन्तवनसे संवर व निर्जराका उपाय करके आत्माको शुद्ध करना चाहिए। यह अवसर फिर न मिलेगा।

अनादिकालजीवेन प्राप्तं दुःखं पुनः पुनः ।
मिथ्यामोहपरीतेन कषायवशवर्त्तिना ॥४८॥

अन्वयार्थ–(अनादिकाल) अनादि कालसे (मिथ्यामोहपरीतेन) मिथ्यादर्शनके संयोगसे (कषायवशवर्तिना) कषायोंके वश होकर (जीवेन) इस जीवने (पुनः पुनः) बार बार (दुःखं प्राप्तं) कष्ट उठाये हैं।

भावार्थ–यह जगत अनादि है। अनादिसे ही इस संसारी प्राणीका इस संसारमें भ्रमण हो रहा है। इसका कारण मोहभाव है। मिथ्याश्रद्धानसे हमने संसारवासको ही उत्तम जाना, विषय-सुखको ही सुख समझा, अतीन्द्रिय आनन्द व मोक्षतत्त्वकी कभी प्रतीति नहीं की, इस कारण तृष्णाकी पूर्तिके लिए लोभ कषायमें फँसकर मायाचार, मान, द्वेषियोंसे क्रोध भाव करके इस मूढने बार बार घोर कर्म बाँधे और बार बार दुर्गतिमें पडकर घोर असहनीय कष्ट पाए। अब उचित है कि आत्माकी रक्षा दुर्गतिसे की जावे। अतएव कर्मबन्धन न होने व पुराने संचितको क्षय करनेका उद्यम करना उचित है।

सम्यक्त्वादित्यसंभिन्नं कर्मध्वान्तं विनश्यति ।
आसन्नभव्यसत्त्वानां काललब्ध्यादिसन्निधौ ॥४९॥

अन्वयार्थ–(काललब्ध्यादिसन्निधौ) काललब्धि आदिकी निकटता होनेपर (आसन्नभव्यसत्त्वानां) निकटभव्य जीवोंका (कर्मध्वान्तं) कर्मोंका अंधकार (सम्यक्त्वादित्यसंभिन्नं) सम्यग्दर्शनरूपी सूर्यसे दूर किया हुआ (विनश्यति) नाश हो जाता है।

भावार्थ–उद्यम करते करते जब मिथ्यात्व अनन्तानुबन्धी कषायोंका बल इतना कम हो जावे कि करणलब्धिके प्रतापसे उनका उपशम होकर सम्यक्दर्शनका प्रकाश हो जावे तब ही काललब्धि आ गई ऐसा समझना चाहिए। जिस समय जो काम हो वही उसकी काललब्धि है। यह काललब्धि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निकटभव्योंको ही प्राप्त होती हैं। जिनका संसारवास शीघ्र छूटनेवाला है वे ही निकटभव्य हैं। यह बात सर्वज्ञके ज्ञानगोचर है। सम्यग्दर्शन एक अपूर्व प्रकाश करनेवाला परम तेजस्वी सूर्य है। जब यह प्रकाश होता है तब अनादि कालका मिथ्यात्वरूप अन्धेरा बिलकुल लोप हो जाता है, तब पूर्वबद्ध कर्म भी ढ़ीले पड़ जाते हैं। जिस वृक्षके पत्ते हरे हों पर जड़ कट गई हो उस समान सम्यग्दृष्टिके कर्मोंकी स्थिति हो जाती है। सम्यक्त्वके होते हुए आत्मानुभवकी धूप जितनी जितनी तेज होती है उतनी ही जल्दी शेष कर्मोंका शोषण हो जाता है और यह आत्मा मुक्त हो जाता है।

सम्यक्त्वभावशुद्धेन विषयासङ्गविवर्जितः ।
कषायविरतेनैव भव-दुःखं विहन्यते ॥५०॥

अन्वयार्थ–(विषयासंगविवर्जितः) जो इंद्रियोंके विषयोंकी आसक्तिसे रहित है वह (सम्यक्त्वभावशुद्धेन) सम्यग्दर्शनकी शुद्धतासे (कषायविरतेन) और कषायोंसे विरक्त होनेसे (भवदुःखं) संसारके दुःखोंको (एव) अवश्य ही (विहन्यते) नाश कर देता है।

भावार्थ–सम्यग्दृष्टि जीवके भाव नियमसे आत्मरुचि सहित होते हैं। वह अतीन्द्रिय सुखका प्रेमी होता है। अतएव उसके भावोंमें न विषयोंकी आसक्ति होती है और न ही कषायोंकी तीव्रता होती है। वह आत्मानुभवका अभ्यास करता रहता है। इस कारण उसके वीतरागताका अंश बढ़ता जाता है, सरागताका अंश घटता जाता है, पुरातन कर्मोंकी निर्जरा अधिक होती है, नवीन कर्मोंका संवर होता है, जिससे वह सब कर्मोंसे रहित हो मुक्त हो जाता है।

संसारध्वंसनं प्राप्य सम्यक्त्वं नाशयन्ति ये ।
वमन्ति तेऽमृतं पीत्वा सर्वव्याधिहरं पुनः ॥५१॥

अन्वयार्थ–(संसारध्वंसनं) संसारको नाश करनेवाले (सम्यक्त्वं) सम्यग्दर्शनको (प्राप्य) प्राप्त करके (ये) जो कोई (नाशयन्ति) उस सम्यक्त्वको नाश कर देते हैं–फिर मिथ्यात्वी हो जाते हैं (ते) वे मानो (सर्वव्याधिहरं) सर्व रोगोंको दूर करनेवाले (अमृतं) अमृतको (पीत्वा) पीकर (पुनः) फिर (वमन्ति) उसका वमन कर देते हैं।

भावार्थ–सम्यग्दर्शनरूपी रत्न इतना अमूल्य है कि इसके सामने चक्रवर्ती व इन्द्रादिक पद सब तुच्छ हैं। अनादिकालके तृष्णारूपी रोगको शमन कर परमानन्दरूपी अमृतको पिलाकर यह सम्यग्दर्शन भव्यजीवको

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अमर, कृतकृत्य, निराकुल, भवभ्रमणरहित कर देता है। ऐसे सम्यक्त्वका मिलना अत्यंत कठिन है। जिनको कदाचित् मिल जावे उनको बहुत यत्नके साथ रखना चाहिए। आगम ज्ञान व संयमके अभ्याससे उसे अधिकसे अधिक शुद्ध करना चाहिए। जो कोई सम्यक्त्वको पाकर प्रमादी हो जाते हैं, ज्ञान और चारित्रकी वृद्धि नहीं करते हैं उनका सम्यक्त्व भाव बाहरी विपरीत कारणोंके मिलनेपर छूट जाता है। सम्यक्त्वका नाश होना मानो अमृतको पीकर फिर उसे वमन करके पीछे फेंक देना है। इससे बढ़कर कोई मूर्खता नहीं है। सम्यक्दर्शन तीन लोकमें सबसे अधिक आत्माका हितकारी मित्र है। इसके प्रतापसे मानवोंके सिवाय वैमानिक देवकी आयुके और कोई आयुका बन्ध ही नहीं होता है।

मिथ्यात्वं परमं बीजं संसारस्य दुरात्मनः ।
तस्मात्तदेव मोक्तव्यं मोक्षसौख्यं जिघृक्षुणा ॥५२॥

अन्वयार्थ–(दुरात्मनः) इस दुष्ट दुखदायी (संसारस्य) संसारका (परमं बीजं) उत्पन्न करनेवाला बड़ा भारी बीज (मिथ्यात्वं) मिथ्यादर्शन है (तस्मात्) इसलिए (मोक्षसौख्यं) मोक्षके सुखको (जिघृक्षुणा) जो चाहता है उसे (तत् एव) उस मिथ्यात्वको अवश्य (मोक्तव्यं) त्याग कर देना चाहिए।

भावार्थ–मिथ्यात्वभाव उसे कहते है जिससे सत्यको असत्य, और असत्यको सत्य माना जावे। आत्माको शुद्ध न मानकर स्वभावसे अशुद्ध मानना, इन्द्रियसुखको सच्चा सुख समझना, कषायोंके रमनेमें रुचि रखना, वीतराग भावका प्रेम न प्राप्त करना, स्वतंत्रताकी भावना न पाकर संसारके प्रपंचमें ही सारपना समझना, सच्चे वीतराग सर्वज्ञदेव, स्याद्वाद वाणी, निर्ग्रंथ गुरु, वीतराग विज्ञानमय जिनधर्मकी श्रद्धा न पाकर रागी द्वेषी देव, एकान्त वचन, सग्रंथ साधु, सराग धर्ममें देव, शास्त्र, गुरु व धर्मकी श्रद्धा रखना मिथ्यादर्शन है। इस भावसे प्रेरित होकर यह प्राणी हिंसादि घोर पापोंको करता है, कर्मोंका बंध करके दीर्घकाल तक भववनमें भटकता है, और जन्ममरण, इष्टवियोग, अनिष्ट- संयोग आदिके अनेक शारीरिक व मानसिक कष्ट पाता है। जब तक इसका त्याग न हो और सम्यक्त्वका लाभ न हो तब तक मोक्षके आनन्द पानेका मार्ग हाथमें नहीं आ सकता। अतएव यत्न करके इस मिथ्यात्वका त्याग करना उचित है।

आत्मतत्त्वं न जानन्ति मिथ्यामोहेन मोहिताः ।
मनुजा येन मानस्था विप्रलुब्धाः कुशासनैः ॥५३॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्वयार्थ–(येन) उस (मिथ्यामोहेन) मिथ्यात्वभावसे (मोहिताः) मूढ होते हुए (मानवाः) मनुष्य (कुशासनैः) मिथ्या उपदेशोंसे (विप्रलुब्धाः) मिथ्यामार्गके लोभी होते हुए (मानस्था) शरीरके अहंकारमें फँसकर (आत्मतत्त्वं) आत्मिक तत्त्वको (न जानन्ति) नहीं जान पाते हैं।

भावार्थ–एक तो मानवोंके भीतर अनादि कालका अग्रहीत मिथ्यात्व होता ही है जिससे वे शरीरासक्त बने ही रहते हैं। दूसरे उनको विपरीत मार्गका उपदेश मिल जाता है। एकान्त व असत्य धर्मके उपदेशोंसे लुभाकर वे कुदेवादिकी भक्तिमें, सराग क्रियाओंमें तथा हिंसाकारक आचरणोंमें सुखके लोभी हो तल्लीन हो जाते हैं। उनको वैराग्यमयी आत्मतत्त्वका उपदेश नहीं सुहाता, अतएव वे आत्मज्ञानको कभी भी नहीं जान पाते हैं। रात दिन मैं ऐसा मैं ऐसा, इस अहंकारमें ग्रसित रहते हैं। मैं शुद्धात्मा हूँ यह ज्ञान उनमें कभी जागृत नहीं होता है।

धर्माचारकी प्रेरणा

दुःखस्य भीरवोऽप्येते सद्धर्मं न हि कुर्वते ।
कर्मणा मोहनीयेन मोहिता बहवो जनाः ॥५४॥

अन्वयार्थ–(दुःखस्य भीरवः) दुःखोंसे भयभीत (अपि) होते हुए भी (एते) ऐसे (बहवः जनाः) बहुतसे मनुष्य हैं जो (मोहनीयेन कर्मणा) मोहनीय कर्मके कारण (मोहिता) मोहित होते हुए (सद्धर्मं) यथार्थ धर्मका (न हि कुर्वते) आचरण नहीं करते हैं।

भावार्थ–जगतमें सब ही प्राणी दुःखोंसे डरते हैं और सदा सुखशांति चाहते हैं। तथापि बहुतसे मानव दुःखके कारणरूप अधर्मको नहीं छोडते और सच्चे सुखके कारणरूप सद्धर्मको नहीं पालते। जैसे कोई नीरोग रहना चाहे परंतु रोगके कारणोंको तो न त्यागे और यथार्थ औषधिका सेवन न करे तो वह अधिकतर रोगी होकर क्लेश ही भोगेगा; इसी तरह अज्ञानी मानव स्त्री, पुत्र, कुटुंबके मोहके भीतर ऐसे अंध हो जाते हैं कि कभी न तो सच्चे धर्मको समझनेका प्रयत्न करते हैं और यदि समझ भी लेते हैं तो उनका आचरण नहीं करते हैं। अतएव दुःखोंसे भयभीत होनेपर भी दुःख ही पाते हैं।

कथं न रमते चित्तं [1]धर्मे चैकसुखप्रदे ।
देवानां[2] दुःखभीरूणां प्रायो मिथ्यादृशो यतः ॥५५॥

पाठान्तर–१. धर्मेऽनेकसुखप्रदे। २. जीवानां।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्वयार्थ–(दुःखभीरूणां) दुःखोंसे भयभीत (देवानां) देवोंका (चित्तं) मन (एकसुखप्रदे धर्मे च) एक मात्र सुखके देनेवाले धर्ममें (कथं न रमेत्) क्यों नहीं रमण करता ? (यतः) क्योंकि (प्रायः मिथ्यादृशः) वे बहुधा मिथ्यादृष्टि होते हैं।

भावार्थ–मिथ्यादृष्टि मानवोंको साधारणतया अवधिज्ञान नहीं होता। वे पूर्व व आगामी भवको नहीं जान सकते, परन्तु देवोंको तो नियमसे अवधिज्ञान होता है। वे पाप व पुण्यके फलको प्रत्यक्ष जान सकते हैं। तथापि मिथ्यात्वके तीव्र उदयसे वे आत्मकल्याणमें अवधिज्ञानका उपयोग नहीं करते हैं, किन्तु विषयोंकी तृष्णामें ऐसे संलग्न रहते हैं कि रातदिन मनोज्ञ विषयभोग करते हैं तथापि तीव्र भोगाकांक्षासे संतापित रहते हैं। उनका मन परम सुखदायी जिनधर्ममें श्रद्धालु एवं प्रेमालु नहीं होता है। मिथ्यात्वके समान कोई वैरी नहीं है। यह बड़ी भारी मदिरा है, जिसको पीकर प्राणी संसारके मोहमें अचेत हो जाता है, धर्मकी बात भी उसे अच्छी नहीं लगती है।

दुःखं न शक्यते सोढुं पूर्वकर्मार्जितं नरैः ।
तस्मात् कुरुत सद्धर्मं येन तत्कर्म नश्यति ॥५६॥

अन्वयार्थ–यदि (नरैः) मानव (पूर्वकर्मार्जितं) पूर्व कर्मोंके उदयसे प्राप्त (दुःखं) दुःखको (सोढुं न शक्यते) सहन नहीं कर सकते हैं (तस्मात्) तब तो (सद्धर्मं कुरुत) उन्हें सद्धर्मका आचरण करना ही चाहिए (येन) जिस धर्मके सेवनसे (तत्कर्म) वह पूर्वका पापकर्म (नश्यति) नाश हो जाए।

भावार्थ–संसारमें जितने दुःख भोगने पड़ते हैं उनका मूल निमित्त कारण अपना ही बाँधा हुआ पापकर्मका उदय है, ऐसा निश्चय करके पापके फलसे प्राप्त दुःखोंको सहनेमें असमर्थ मानवोंको रत्नत्रयरूप आत्मधर्मका सेवन अवश्य करना चाहिए। धर्मसेवनसे जो वीतराग भाव होंगे उन भावोंके प्रभावसे सत्तामें बैठा हुआ पापकर्म पुण्यमें बदल जायेगा या अत्यन्त क्षीण हो जायेगा या क्षय हो जायेगा तथा महान पुण्यका बन्ध भी होगा; क्योंकि धर्मानुराग अतिशयकारी पुण्यको बाँधनेवाला है। अपनी भूलसे अयोग्य खान-पान द्वारा उठा हुआ रोग यदि यथार्थ औषधिका सेवन किया जावे तो मिट सकता है, बहुत कम हो सकता है। विवेकी मानवको उचित है कि भव भव दुःखदायी कर्मोंके संहारक इस पवित्र जिनधर्मका रुचिपूर्वक आराधन करें।

सुकृतं तु भवेद्यस्य तेन यान्ति परिक्षयम् ।
दुःखोत्पादनभूतानि दुष्कर्माणि समन्ततः ॥५७॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्वयार्थ–(यस्य तु) जिसके द्वारा (सुकृतं भवेत्) धर्म कार्य होगा (तेन) उसके धार्मिक भावसे (दुःखोत्पादनभूतानि) दुःखोंको पैदा करनेवाले (दुष्कर्माणि) कर्म (समन्ततः) सर्वथा (परिक्षयम् यान्ति) क्षय हो जाते हैं।

भावार्थ–पूर्वबद्ध कर्म यदि निकाचित आदि वज्रके समान तीव्र न हो तो धार्मिक पवित्र वीतरागता सहित भावोंके प्रतापसे अपने समयके पहले ही बिना फल दिये क्षय हो जाते हैं। जिन कर्मोंके उदयसे असाता होनेवाली हो वे कर्म जडमूलसे जीर्ण होकर गिर पडते हैं। आत्माके अनुभवमें अपूर्व शक्ति है। सम्यग्दर्शनसहित धर्मका आचरण करना हमारे वर्तमान जीवनको भी दुःखोंसे रहित और सातासे पूर्ण बनाता है, भविष्यका जीवन भी कष्ट रहित तैयार होता है क्योंकि पुण्यका अधिक संचय होता है। धर्माचरणसे सुख शांति भी अनुभवमें आती है, चित्तमें संतोष रहता है, विषयकषायोंकी मन्दता होती है।

धर्म एव सदा कार्यो मुक्त्वा व्यापारमन्यतः ।
यः करोति परं सौख्यं यावन्निर्वाणसङ्गमः ॥५८॥

अन्वयार्थ–(अन्यतः) दूसरे कार्योंसे (व्यापारं) व्यवहार (मुक्त्वा) हटाकर (धर्म एव) धर्मको ही (सदा) सदा (कार्यः) करना योग्य है। (यावत्) जब तक (निर्वाणसङ्गमः) निर्वाणका लाभ न हो तब तक (यः) यह धर्म (परं सौख्यं) परमानन्दको (करोति) प्रदान करता रहता है।

भावार्थ–सदा काल इस वर्तमान जीवनको और भविष्यके जीवनको सुखदायी, साताकारी, संतोषी, क्लेशरहित बितानेका उपाय एक पवित्र जिनधर्मका आचरण है। जो मुनि या श्रावकके चारित्रको सम्यग्दर्शन सहित बिना किसी माया, मिथ्या या निदान शल्यके हर्षित मनसे विवेकपूर्वक पालता है वह वज्र समान तीव्र कर्मोदयसे यहाँ यदि आपत्तिमें भी आ जावे तो भी वस्तुस्वरूपको विचार कर धैर्यवान व निराकुल रहता है तथा साधारण पाप कर्मोंको तो वह क्षय ही कर डालता है, जिससे बहुतसा दुःख टल जाता है। आत्मानंदका लाभ तो वह सतत आत्ममननसे करता है। पुण्यका बन्ध अधिक होनेसे वह धर्मात्मा सुगतिको ही प्राप्त करता है। वहाँ भी आत्मानुभवका संस्कार जागृत करता है, सुखमय जीवन बिताता है। निर्वाणकी ओर दृष्टि लगानेवाले महात्माको जब तक निर्वाणका संगम न हो तब तक सदा ही अतीन्द्रिय आनन्दके साथ-साथ साता और संतोषका लाभ होता है। शारीरिक और मानसिक कष्टोंमें बहुत कमी होती

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जाती है। इसलिए विवेकी जीवको धर्मका सदा आचरण करना योग्य है।

क्षणेऽपि समतिक्रान्ते सद्धर्मं परिवर्जिते ।
आत्मानं मुषितं मन्ये कषायेन्द्रियतस्करैः ॥५९॥

अन्वयार्थ–(सद्धर्मं परिवर्जिते) सत्य धर्मके आचरण विना (क्षणे अपि) एक क्षण भी (समतिक्रान्ते) वृथा चले जानेपर (मन्ये) मैं मानता हूँ कि मैंने (आत्मानं) अपनेको (कषायेन्द्रियतस्करैः) कषाय और इन्द्रियोंके विषयरूपी चोरोंसे (मुषितं) ठगा लिया।

भावार्थ–ज्ञानीको धार्मिक क्रियाओंमें लगातार अपने मन, वचन, कायको ऐसा लगाये रखना चाहिए जिससे विषयोंके भाव और कषायोंके वेग अपना प्रभाव न डाल सकें। विषयकषाय आत्मिक धर्मके चुरानेवाले चोर हैं। जहाँ मनको धर्मभावशून्य पाते हैं वहाँ ही मनमें प्रवेश कर जाते हैं। अतएव जो आरम्भत्यागी श्रावक और साधु हैं उनको २४ घंटोंका समय-विभाग बनाकर निरन्तर सामायिक, स्वाध्याय, धर्मचर्चा, धर्मोपदेश, धर्म-भावना, ग्रन्थ-लेखनादिमें बिताना चाहिए। जो आरम्भत्यागी नहीं हैं ऐसे गृहस्थ श्रावकोंको द्रव्य कमानेके लिए और न्यायपूर्वक इन्द्रियभोग करने व शरीरको आराम देनेके लिए समयका विभाग बनाकर शेष समयको सामायिक, देवपूजा, शास्त्र-स्वाध्याय, तत्त्वचर्चा, परोपकार, दान सेवा आदि शुभ कार्योंमें बिना किसी मानकी व लोभकी भावनाके बिताना चाहिए। एक क्षण भी धर्मभाव बिना वृथा न खोना चाहिए। लौकिक सर्व व्यवहारको धर्मकी रक्षा करते हुए नीति व सत्यके अनुकूल करना चाहिए। यही जीवनकी सफलता है।

धर्मकार्ये मतिस्तावद्यावदायुर्दृढं तव ।
आयुःकर्मणि संक्षीणे पश्चात्त्वं किं करिष्यसि ॥६०॥

अन्वयार्थ–(यावत्) जब तक (तव आयुः) तेरी उम्र (दृढं) मजबूत है (तावत्) तब तक (धर्मकार्ये) धर्मकार्यमें (मतिः) बुद्धि रखनी चाहिए। (आयुःकर्मणि) आयु कर्मके (संक्षीणे) नाश हो जानेपर (पश्चात्) पीछे (त्वं) तू (किं) क्या (करिष्यसि) करेगा ?

भावार्थ–कर्मभूमिके मानवोंकी आयुके क्षयका कोई नियम नहीं है। बाहरी प्रतिकूल कारणके होनेपर अकालमें भी आयुकर्मकी उदीरणा हो जाती है। सर्व स्थिति कटकर आयुकर्मकी वर्गणाएँ खिर जाती हैं। इसलिए सदा ही धर्मकार्योंमें बुद्धि रखनी चाहिए, जिससे मरण कभी भी आये तो भी पछतावा न करना पडे, पुण्यकर्मके संचयको लेकर प्राणीका मरण हो।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

धर्ममाचर यत्नेन मा भवस्त्वं मृतोपमः ।
सद्धर्मं चेतसां पुंसां जीविते सफलं भवेत् ॥६१॥

अन्वयार्थ–(यत्नेन) यत्नके साथ (धर्मं) धर्मका (आचर) आचरण कर, (त्वं) तू (मृतोपमः) मृत प्राणीके समान (मा भव) मत रह। (सद्धर्मं) सत्य धर्मको (चेतसां) अनुभव करनेवाले (पुंसां) मानवोंका (जीवितं) जीवन (सफलं) सफल (भवेत्) होता है।

भावार्थ–इस दुर्लभ मनुष्य-जीवनकी सफलता धर्मके आचरणसे ही होती है। कर्मके प्रतापसे मानवोंका जीवन यहाँ भी सुख संतोषपूर्वक बीतता है और परलोकके लिए भी पुण्यकर्मका संचय होता है। जो मानव धर्मका साधन नहीं करते हैं उनका जीना न जीना समान है। वह मृतकके समान ही है, किन्तु उससे भी बुरा है। मृतक पापसंचय नहीं करता है। धर्मरहित अधर्मी मानव पापोंका संचय करके भावी जीवनको दुःखमय बना लेता है। इसलिए विवेकीको उचित है कि वह पुरुषार्थ करके धर्मका निरन्तर आचरण करे।

मृता नैव मृतास्ते तु ये नरा धर्मकारिणः ।
जीवंतोऽपि मृतास्ते वै ये नराः पापकारिणः ॥६२॥

अन्वयार्थ–(ये) जो (नराः) मानव (धर्मकारिणः) धर्मका आचरण करनेवाले हैं (ते तु मृताः) वे यदि मर जावें (मृता न एव) तो भी वे मरे नहीं है (वै) परन्तु (ये नराः) जो मानव (पापकारिणः) पाप करनेवाले हैं (ते) वे (जीवन्तः अपि) जीते हुए भी (मृताः) मरे हुए हैं।

भावार्थ–धर्मका पालन सदा ही सुखकारी है। जो धर्मात्मा आत्मज्ञानी वर्तमान जीवनको आत्मध्यान स्वाध्याय व्रत और तपाचरण द्वारा बिताते हैं वे यहाँ भी सुखी रहते हैं तथा भविष्यमें भी पुण्य बाँधकर साताकारी संयोग तथा संस्कारसे आत्मज्ञान पाते हैं। अतएव शरीर छूटनेपर भी उनको कोई हानि नहीं है। वे जैसे यहाँ जीते हुए सुखी थे वैसे परलोकमें सुखी रहेंगे। परन्तु जो मिथ्याभावसे ग्रसित हैं, विषयोंकी तृष्णाके वश हैं और अन्ध हो हिंसा, असत्य, चोरी आदि पापकार्य करते हैं, वे यहाँ भी आकुलित रहते हैं, चिन्तापूर्ण जीवन बिताते हैं और परलोकमें पापके फलसे घोर दुर्गतिमें चले जाते हैं। मानवसे एकेन्द्रिय वृक्षादि हो जाते हैं। ऐसे मानवोंका जीवन मरणके समान ही है, कुछ भी फलदायी नहीं है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

धर्मामृतं सदा पेयं दुःखातङ्कविनाशनम् ।
यस्मिन् पीते परं सौख्यं जीवानां जायते सदा ॥६३॥

अन्वयार्थ—(दुःखातङ्कविनाशनम्) दुःखरूपी रोगोंके नाश करने वाले (धर्मामृतं) धर्मरूपी अमृतको (सदा पेयं) सदा पीना चाहिए (यस्मिन्) जिसके (पीते) पीनेसे (जीवानां) जीवोंको (सदा) सदा (परं सौख्यं) उत्तम सुख (जायते) होता है।

भावार्थ—संसार दुःखोंसे भरा है। जिस जीवको संसारके दुःखोंका रोग पीडित कर रहा है उसके लिए यही उचित है कि धर्मरूपी अमृतका पान करे। यही परम औषधि है जो सेवन करते हुए भी मीठी है और जिससे सर्व दुःखोंका अन्त सदाके लिए हो जाता है। जैसे अमृत तुर्त मिष्टता देता है, शरीरको नीरोगी बनाता है वैसे यह आत्मानुभवरूपी अमृत उसी समय आत्मानन्द देता है और उन कर्मोंका नाश करता है जो संसारमें दुखफलको देनेवाले हैं। अतएव जन्म जरा मरणादि भयानक कष्टोंसे सदाके लिए छुट्टी पानेके लिए विवेकी जीवको पुरुषार्थ करके ध्यान, स्वाध्याय, भक्ति, तपादि द्वारा मनको निश्चल कर अपने ही आत्माके शुद्ध स्वरूपका मनन करना चाहिए।

धर्म सुखकारी व तारक है

स धर्मो यो दयायुक्तः सर्वप्राणिहितप्रदः ।
स एवोत्तारणे शक्तो भवाम्भोधौ सुदुस्तरे ॥६४॥

अन्वयार्थ—(यः दयायुक्तः) जो दयाभावसे पूर्ण है (सः) वही (सर्वप्राणिहितप्रदः) सर्व प्राणीमात्रका हितकारी (धर्मः) धर्म है, (सः एव) वही धर्म (सुदुस्तरे) अत्यन्त कठिनतासे तरने योग्य (भवाम्भोधौ) इस संसारसमुद्रसे (उत्तारणे) पार उतारनेमें (शक्तः) समर्थ है।

भावार्थ—धर्म उसे कहते हैं जो जीवोंको संसारसमुद्रमें डूबनेसे बचाये तथा जो सदा उत्तम सुख देवे। ऐसा धर्म वही है कि जो यह सिखाता है कि सर्व प्राणीमात्र पर दयाभाव रक्खो, किसीको कष्ट न दो, अपने आत्माको व परके आत्माको कभी न सताओ। ऐसा विश्व प्रेममय अहिंसाभाव ही धर्म है। जिसके परिणाममें सर्व जीवके प्रति मैत्रीभाव जग उठता है, द्वेषभाव निकल जाता है, कोई छोटा है, कोई बड़ा है, यह रागद्वेष भी नहीं रहता है, सर्वविश्वके आत्मा स्वभावसे समान है, ऐसा साम्यंभाव प्रकट हो जाता है। यही साम्यभाव आनन्दप्रद है तथा संसारमें

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

डुबानेवाले कर्मोंका नाशक है। यही भाव उस बातकी प्रेरणा करता है कि अपने आत्माको भी क्रोधादि हिंसक भावोंसे बचाओ तथा जगतके प्राणियोंके साथ व्यवहार करते हुए उनकी भी यथाशक्ति रक्षा करो। प्रमादभावसे वर्तन न करो जिससे प्राणी वृथा कष्ट पावें।

यदा कण्ठगतप्राणो जीवोऽसौ परिवर्त्तते।
नान्यः कश्चित्तदा त्राता मुक्त्वा धर्मं जिनोदितम् ॥६५॥

अन्वयार्थ–(यदा) जब (असौ) यह (कंठगतप्राणः) मरणके सन्मुख होता हुआ (जीवः) जीव (परिवर्तते) इस शरीरको छोडकर दूसरेमें जाता है (तदा) तब (जिनोदितं धर्मं) जिनेन्द्रकथित धर्मको (मुक्त्वा) छोडकर (कश्चित्) कोई (अन्यः) दूसरा (त्राता न) रक्षक नहीं है।

भावार्थ–जिनेन्द्र भगवानने सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रकी एकतारूप आत्मानुभवको धर्म कहा है और इसके साधक व्यवहारोंको भी धर्म कहा है। शुद्धोपयोग मुख्य धर्म है, जो नवीन बंधको रोकता है व पुराने कर्मोंको काटता है, आत्माको शुद्ध करता है। शुभोपयोग व्यवहारधर्म है इससे पुण्य कर्मका बंध होता है। जब संसारी प्राणी मरने लगता है उस समय कोई भी मरणसे बचा नहीं सकता। स्त्री, पुत्र, मित्र, वैद्य, धन-सम्पदा, औषधि सब पड़े रह जाते हैं। कोई इस जीवके साथ भी नहीं जाता। ऐसी असमर्थ दशामें मरणके समय यदि धर्मको स्मरण किया जावे, तो शुभलेश्यासे मरकर यह जीव देवगतिको ही प्राप्त होता है और यदि देव न हो तो मनुष्यगतिको प्राप्त होता है। पुण्यके उदयसे जिस गतिमें जावे वहाँ साताकारी संयोग प्राप्त हों और ऐसे साधन मिलें, जिनसे फिर भी पवित्र जिनधर्ममें परम प्रीति हो जावे। परम शरण, परम रक्षक सदा ही सुखप्रद हो ऐसा यदि कोई मित्र है तो वह धर्म ही है। जो धर्मसे प्रीति करता है वह सदा दुःखोंसे बचता है। यदि तीव्र कर्मोंके उदयसे भारी कष्ट आ भी जाता है तो धर्मके प्रतापसे इस कष्टको धैर्यके साथ सह सकता है। धर्मके समान कोई उपकारी नहीं है।

अल्पायुषा नरेणेह धर्मकर्मविजानता।
न ज्ञायते कदा मृत्युर्भविष्यति न संशयः ॥६६॥

अन्वयार्थ–(इह) इस जगतमें (धर्मकर्मविजानता) धर्मकर्मको जाननेवाले (अल्पायुषा) थोडी आयुवाले इस (नरेण) मानव द्वारा (न ज्ञायते) नहीं जाना जा सकता कि (कदा) कब (मृत्यु) मरण (भविष्यति) होगा। (संशयः न) इस बातमें

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संशय नहीं करना चाहिए।

भावार्थ–कर्मभूमिके मानवोंको अकाल मरण भी करना पड़ता है इससे मरणके समयका निश्चयं करना दुर्लभ है। इसलिए ज्ञानीको यही समझना चाहिए कि मरण सदा ही खड़ा रहता है। मालूम नहीं कब गला दबा देवे। इसलिए धर्मसेवन फिर कर लेंगे इस भावको मनसे दूर करके धर्मका सेवन हर समय करते रहना चाहिए। ध्यान, स्वाध्याय, संयम, दान, तप, भक्ति, सेवा परोपकारादिमें सदा वर्तना चाहिए, जिससे मरण जब चाहे होवे तो भी प्राणीको कष्ट न हो, मर करके सुगतिको प्राप्त हो।

> आयुर्यस्यापि दैवज्ञैः परिज्ञाते [1]हितान्तके।
> तस्यापि क्षीयते सद्यो [2]निमित्तान्तरयोगतः ॥६७॥

अन्वयार्थ–(यस्य अपि आयुः) जिस किसीकी भी आयु (दैवज्ञैः) भाग्यके ज्ञाता निमित्त ज्ञानियोंके द्वारा (हितान्तके) हितसे अन्त होगी व अमुक समय पर छूटेगी (परिज्ञाते) ऐसा जान लिया जावे (तस्य अपि) उसकी भी आयु (निमित्तान्तरयोगतः) किसी विपरीत निमित्तके संयोग होनेपर (सद्यः) शीघ्र (क्षीयते) क्षय हो जाती है।

भावार्थ–निमित्तज्ञानी बता भी देवें कि अमुक समय तुम्हारा मरण होगा, तो भी उनका वचन बहुत करके ठीक नहीं पड़ सकता है, क्योंकि जगतमें असाध्य रोग, अग्नि-प्रकोप, भूकम्प, जलप्रवाह आदि अनेक अकस्मात् एकाएक आ जाते हैं जिससे आयुकर्मकि पुद्‌गल उदीरणारूप होकर शीघ्र ही गिर पडते हैं। जैसे दीपकमें तेल इतना हो कि रात्रिभर जलेगा, परन्तु किसी कारणसे दीपकका तेल गिर जावे तो वह दीपक तुर्त बुझ जाता है, वैसे ही आयुकी स्थिति निमित्तज्ञानी द्वारा जान भी ली जावे तो भी वह स्थिति एकदम खिर जाती है। जीवनकी ऐसी क्षणभंगुरता समझकर बुद्धिमानको सदा ही धर्ममें तत्पर रहना उचित है।

> जिनैर्निगदितं धर्मं सर्वसौख्यमहानिधिम्।
> ये न तं प्रतिपद्यन्ते तेषां जन्म निरर्थकम् ॥६८॥

अन्वयार्थ–(जिनैः) श्री जिनेन्द्रोंने (सर्वसौख्यमहानिधिम्) सर्व सुखका भण्डार स्वरूप (धर्मं) धर्मको (निगदितं) कहा है। (ये) जो (तं) उसे (न प्रतिपद्यन्ते) नहीं धारण करते हैं (तेषां) उनका (जन्म निरर्थकं) जन्म वृथा है।

भावार्थ–श्री वीतराग सर्वज्ञ देवने जिस धर्मका उपदेश किया है वह

पाठान्तर–१. हि जातके। २. निमित्तोत्तरयोगतः।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सर्व प्रकारसे सुखका भण्डार है। उस धर्मके पालनेसे कभी कष्ट नहीं होता है। वर्तमानमें भी सुख होता है, आत्मिक सुखका स्वाद आता है तथा भविष्यमें भी पुण्यके फलसे साताकारी संयोगोंको देनेका कारण है और वह परम्परा मोक्षका हेतु है। ऐसे वीतराग विज्ञानमय धर्मको जो नहीं समझते हैं, नहीं पालते हैं उनका मनुष्यजन्म निरर्थक बीत जाता है। इस नरजन्मकी शोभा सत्य आत्मानन्द प्रदायक व परम अहिंसामय धर्मके आराधनसे ही होती है। जो जिनकथित संयमको पालकर अपने आत्माको शुद्ध करते हैं उन्हींका जन्म सफल है। जो धर्मसे प्रेम न करते हुए रातदिन कुटुंबके मोहमें अंध हो वर्तते हैं वे इस नरजन्मरूपी रत्नको कौड़ियोंके बदलेमें खोते हैं।

हितं कर्म परित्यज्य पापकर्मसु रज्यते ।
तेन वै दह्यते चेतः शोचनीयो भविष्यति ॥६९॥

अन्वयार्थ–(हितं कर्म) आत्माकी हितकारी क्रियाको (परित्यज्य) छोड़कर (पापकर्मसु) पापकर्मोंमें (रज्यते) जो रंजायमान हो जाता है (तेन) उसने (वै) यथार्थमें (चेतः) अपने आपको (दह्यते) दग्ध कर दिया। (शोचनीयः) शोककारक यह बात (भविष्यति) भविष्यमें होगी।

भावार्थ–आत्माका हित आत्मज्ञान सहित धर्मके आचरणसे है। जो मूर्ख इस धर्मकी कुछ भी परवाह न करके, रातदिन विषय व कषायोंके आधीन होकर उनकी सिद्धि होनेके लिए हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील आदि पापोंमें आसक्त होकर बिना ग्लानिके करता रहता है उसने अपने आत्माको मानो जला ही ड़ाला, उसका घोर बिगाड़ किया, क्योंकि पाप कर्मोंसे तीव्र कर्मोंका बन्ध हो जायेगा। जब उन पापोंका उदय आयेगा और दुःख सहना पडेगा तब इस प्राणीको बहुत पछताना पड़ेगा और शोकित होना पडेगा। अतएव पापोंसे मन, वचन, कायाको हटाकर धर्ममें प्रवृत्ति करनी योग्य है।

यदि नामाप्रियं दुःखं सुखं वा यदि वा प्रियम् ।
ततः कुरुत सद्धर्मं जिनानां जितजन्मनाम् ॥७०॥

अन्वयार्थ–(यदि) यदि (नाम) वास्तवमें (दुःखं) दुःख (अप्रियं) अच्छा नहीं लगता है (वा यदि सुखं वा प्रियम्) तथा यदि सुख प्यारा लगता है (ततः) तो (जितजन्मनाम्) संसारको जीतने वाले (जिनानां) जिनेन्द्रोंके (सद्धर्मं) सच्चे धर्मको (कुरुत) पालो।

भावार्थ–दुःखोंका मूल निमित्त कारण पापकर्मोंका उदय है। तथा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सांसारिक सुखोंका निमित्त मूल कारण पुण्यकर्मोंका उदय है। इसलिए पाप क्षय करनेकी व पुण्यको संचय करनेकी आवश्यकता है। यह तब ही हो सकता है जब शुद्धोपयोगसे प्रेमयुक्त होकर जिनेन्द्रकथित रत्नत्रय धर्मको यथार्थपनेसे आचरण किया जावे। जो अविरत सम्यक्त्वी भी होते हैं वे भी दुर्गतिके दुःखोंसे बचेंगे और जब तक मोक्ष न होगा, तब तक साताकारी संयोगोंको प्राप्त करेंगे। अतएव धर्मके आचरणमें प्रमाद करना उचित नहीं है।

विशुद्धादेव संकल्पात्समं सद्‌भिरुपार्ज्यते ।
स्वल्पेनैव प्रयासेन चित्रमेतदहो परम् ।।७१।।

अन्वयार्थ–(अहो एतत् परम् चित्रं) यह बड़े आश्चर्यकी बात है कि (स्वल्पेन एव प्रयासेन) थोड़े ही प्रयत्नसे (विशुद्धात् संकल्पात् एव) शुद्ध भावोंके द्वारा और (सद्भिः) संत पुरुषोंके द्वारा (समं) समभाव (उपार्ज्यते) प्राप्त कर लिया जाता है।

भावार्थ–परिणामोंकी विचित्र गति है। परिणामोंको पलटनेका निमित्त मिलानेसे परिणाम अशुभ व शुभसे पलटकर शुद्धोपयोगमें पहुँच जाते हैं। जहाँ शुद्धोपयोग है वहाँ समभाव है। समभाव परम धर्म है। यही परम कल्याणकारी है। सामायिक, अध्यात्म शास्त्रका मनन, भक्ति आदि निमित्तोंके द्वारा वीतराग भाव जागृत हो जाता है अथवा व्यवहार नयको गौणकर जब शुद्ध निश्चयनयके द्वारा मनन किया जाता है तब सर्व जीव मात्र पर समभाव जागृत हो जाता है। परिणामोंको शुद्धोपयोगमें ले जानेके लिए सम्यग्दर्शनकी जरूरत श्रद्धान चारित्रका प्रेरक होता है।

धर्म एव सदा त्राता जीवानां दुःखसंकटात् ।
तस्मात्कुरुत भो यत्नं तत्रानन्तसुखप्रदे ।।७२।।

अन्वयार्थ–(जीवानां) जीवोंको (दुःखसंकटात्) दुःख संकटोंसे (सदा त्राता) सदा रक्षा करने वाला (धर्मः एव) धर्म ही है (तस्मात्) इसलिए (अनन्तसुखप्रदे तत्र) अनन्त सुखके देने वाले उस धर्ममें (भो) हे भाई ! (यत्नं कुरु) तू पुरुषार्थ कर।

भावार्थ–जो धर्मात्मा होते हैं उनके परिणामोंमें सदा संतोष रहता है। इसलिए दुःखोंके पडने पर वे आकुलित नहीं होते। उनको असाताके कारण मिलनेपर ज्ञानके बलसे धैर्य रहता है। इसके सिवाय धर्मके प्रतापसे पिछले बाँधे हुए पाप कर्मोंको पुण्यमें पलटा जा सकता है। पापका बल घटाया जा सकता है। नवीन पुण्यका बंध होता है जो इस जन्ममें भी उदय देना प्रारम्भ कर सकता है। इसलिए धर्मात्माके ऊपर आनेवाले संकट टल जाते हैं या कम हो जाते हैं। भवभवके दुःखोंसे बचानेवाले व अनन्त सुखके

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

देनेवाले इस आत्माके स्वाभाविक धर्मपर दृढ श्रद्धा लाकर उस धर्मका साधन प्रमाद त्यागकर बड़े परिश्रमसे करना चाहिए।

यत्त्वया न कृतो धर्मः सदा मोक्षसुखावहः ।
प्रसन्नमनसा येन तेन दुःखी भवानिह ।।७३।।

अन्वयार्थ–(यत् येन) जिस कारणसे (त्वया) तूने (मोक्षसुखावहः) मोक्षसुखके देनेवाले (धर्मः) धर्मको (प्रसन्न मनसा) प्रसन्न मनके साथ (सदा न कृतः) सदा नहीं पाला है (तेन) इसी कारणसे (इह) इस लोकमें (भवान्) तू (दुःखी) दुःखोंका पात्र बन रहा है।

भावार्थ–दुःखोंका कारण पापोंका उदय है। पापोंका बन्ध आर्तध्यान व रौद्रध्यानसे या अशुभयोगसे होता है। जो धर्मकी क्रियाको भी दुःख भावसे करता है उसको परिणामके अनुकूल पापका ही बन्ध होता है। इसलिए धार्मिक क्रियाको बड़े आनन्द भावसे श्रद्धापूर्वक करना योग्य है, जिससे अतिशयकारी पुण्यका बन्ध हो। धर्मका साधन किसी इच्छासे न करके केवल कर्मबन्धसे छूटनेके हेतु ही करना चाहिए। अतीन्द्रिय आनन्दके लिए ही करना चाहिए। तथा धर्म भी वही सत्य है जो अतीन्द्रिय आनंदका स्वाद प्रदान करे। वह धर्म स्वात्मानुभवरूप है, जहाँ निश्चय सम्यक्दर्शन, निश्चय सम्यग्ज्ञान और निश्चय सम्यक्-चारित्रकी एकता है अथवा शुद्ध भावकी ओर प्रेम बढ़ानेवाला शुभोपयोग भी धर्म है। जो सदा जिनधर्मको पालेगा वह कभी दुखोंके सागरमें नहीं पड़ेगा।

यत्त्वया क्रियते कर्मविषयान्धेन दारुणम् ।
उदये तस्य सम्प्राप्ते कस्ते त्राता भविष्यति ।।७४।।

अन्वयार्थ–(विषयान्धेन) विषयमें अन्ध होकर (त्वया) तेरे द्वारा (यत् दारुणं कर्म) जो भयानक तीव्र कर्म (क्रियते) बाँधे जाते हैं (तस्य उदये सम्प्राप्ते) उन कर्मोंके उदय आनेपर (फल मिलनेपर) (कः) कौन (ते) तेरा (त्राता) रक्षक (भविष्यति) होगा?

भावार्थ–इस जीवको अपने बाँधे हुए तीव्रकर्मोंका फल स्वयं आप ही भोगना पड़ता है। कर्मोंके उदयसे शारीरिक व मानसिक अवस्था बिगड़ती है उसको कोई बटा नहीं सकता व उस समय जो वेदना होती है उसको भी स्वयं आप अकेलेको ही भोगनी पड़ती है। तीव्र कर्मोंका बन्ध अन्याय, अभक्ष्य, मिथ्यात्वके कारण हो जाता है। विषयोंमें अन्धा प्राणी धर्म और न्यायका तिरस्कार करके जो तीव्र रागद्वेषमोह करता है वही तीव्र पापबंध करता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इन्द्रिय-भोगोंकी असारता

भुक्त्वाऽप्यनन्तरं भोगान् देवलोके यथेप्सितान् ।
यो हि तृप्तिं न सम्प्राप्तः स किं प्राप्स्यति [1]सम्प्रति ।।७५।।

अन्वयार्थ–(देवलोके) स्वर्गलोकमें (यथेप्सितान्) इच्छानुसार (भोगान्) भोगोंको (अनन्तरं) निरन्तर (भुक्त्वाऽपि) भोगकर भी (यः) जो कोई (हि) निश्चयसे (तृप्तिं न सम्प्राप्तः) तृप्त नहीं हुआ (सः) वह (सम्प्रति) वर्तमान तुच्छ भोगोंसे (किं) किस तरह (तृप्तिं) तृप्तिको (प्राप्स्यति) प्राप्त कर सकेगा ?

भावार्थ–इन्द्रियोंके भोगोंसे कभी तृप्ति नहीं हो सकती है। जितना भी भोगोंको भोगा जाता है उतनी ही तृष्णा बढ़ती जाती है। जैसे खाजको जितना भी खुजाया जावे बढ़ती जाती है। देवलोकमें देवोंको विक्रिया करनेकी शक्ति है, जिससे वे नाना प्रकारके भोग देवियोंके साथ निरन्तर करते हैं, इच्छानुसार भोग करते हैं तो भी उनका मन नहीं भरता है, तो इस मनुष्यलोकके बहुत ही अल्प इन्द्रियोंके भोगोंसे तृप्ति होनी असंभव ही है। एक तो यहाँ इच्छानुकूल भोग नहीं मिलते हैं, दूसरे यदि मिलते भी हैं तो उनसे तृप्ति होनी कठिन है। इसलिए इन अतृप्तिकारी भोगोंमें फँसकर जो धर्मका अपूर्व साधन मनुष्यजन्ममें हो सकता है उसको न करना मूर्खता है।

वरं हालाहलं भुक्तं विषं तद्भवनाशनम् ।
न तु भोगविषं भुक्तमनन्तभवदुःखदम् ।।७६।।

अन्वयार्थ–(तद्भवनाशनम्) उसी एक जन्मके नाश करने वाले (हालाहलं विषं) हलाहल विषको (भुक्तं) खा लेना (वरं) अच्छा है। (तु) परन्तु (अनंतभवदुःखदम्) अनंत जन्मोंमें दुःख देने वाले (भोगविषं) भोगरूपी विषको (भुक्तं) भोगना (न) ठीक नहीं है।

भावार्थ–जो मूर्ख इन्द्रियोंके विषयोंके सुखमें आसक्त होकर न्याय अन्याय धर्म अधर्मका विचार नहीं रखते हैं, निरर्गल होकर भोगोंमें लिप्त हो जाते हैं और धर्मकार्यसे विमुख रहते हैं वे ऐसा तीव्र मिथ्यात्वादि कर्मोंका बन्ध करते हैं, जिस कर्मके उदयसे अनंत जन्मोंमें एकेन्द्रियादिके कष्ट भोगने पड़ते हैं। इसीलिए यहाँ कहा गया है कि कदाचित् विष खाकर मर जाना अच्छा है–उससे इसी जन्ममें शरीरका नाश होगा परन्तु विषयभोगोंमें लिप्त होना अच्छा नहीं, जो भविष्यमें महान दुःखदायी है।

पाठन्तर–१. साम्प्रतम् ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इन्द्रियप्रभवं सौख्यं सुखाभासं न तत्सुखम् ।
तच्च कर्मविबन्धाय दुःखदानैकपण्डितम् ॥७७॥

अन्वयार्थ–(इन्द्रियप्रभवं) इन्द्रियोंके भोगोंसे होनेवाला (सौख्यं) सुख (सुखाभासं) सुखसा दीखता है (तत्) परन्तु वह (सुखं न) सच्चा सुख नहीं है (तत् च) वह तो (कर्मविबन्धाय) कर्मोंका विशेष बन्ध करानेवाला है (दुःखदानैकपण्डितम्) तथा दुःखोंके देनेमें एक पंडित है अर्थात् महान दुःखदायक है।

भावार्थ–यहाँ सच्चे सुखकी तरफ आचार्य लक्ष्य कराते हुए कहते हैं कि सच्चा आनन्द वह है जो हरएक आत्माका स्वभाव है और जिसे हरएक आत्मा अपने आत्माके अनुभवसे ही प्राप्त कर सकता है। इस सुखके भोगनेमें कभी कष्ट नहीं होता है, न वर्तमानमें होता है, न भविष्यमें होता है, क्योंकि इस सुखके भोगसे कर्मोंकी निर्जरा हो जाती है। मुक्तात्माओंका सुख स्वाधीन और आत्मोत्थ है। जबकि इन्द्रियोंके भोगोंसे जो सुख प्रगट होता है वह सुख सरीखा दीखता है परन्तु वह वास्तविक सुख नहीं है। अपने रागभावकी पीड़ा न सह सकनेके कारण यह प्राणी इन्द्रिय भोग करता है, उससे वर्तमानकी पीड़ा कुछ क्षणके लिए शमन हो जाती है। किन्तु कुछ ही देर पीछे तृष्णाके वेगसे पीड़ा और अधिक हो जाती है। अतएव इन्द्रियोंका भोग चित्तके तापको बढ़ानेवाला ही है। तथा तीव्र रागसे अशुभ कर्मोंका बंध हो जाता है जिससे भावी कालमें भी दुःख होगा। इसलिए ज्ञानी जीवको इन्द्रिय सुखको असार व दुःखरूप व संसारवर्द्धक जानकर इससे श्रद्धा हटा लेनी चाहिए, केवल अतीन्द्रिय आत्मिक सुखकी ही प्राप्तिकी कामना रखनी चाहिए।

अक्षाश्वान्निश्चलं धत्स्व विषयोत्पथगामिनः ।
वैराग्यप्रग्रहाकृष्टान् सन्मार्गे विनियोजयेत् ॥७८॥

अन्वयार्थ–(विषयोत्पथगामिनः) विषयोंके कुमार्गमें ले जानेवाले (अक्षाश्वान्) इन्द्रिय रूपी घोडोंको (निश्चलं) निश्चल होकर (धत्स्व) पकड़ो (वैराग्यप्रग्रहाकृष्टात्) और वैराग्यरूपी लगामसे खींचकर उन्हें (सन्मार्गे) सच्चे मार्गमें (विनियोजयेत्) लगाओ, अथवा चलाओ।

भावार्थ–जैसे घोड़ोंकी लगाम हाथमें न हो तो वे घोडे इच्छानुकूल कुमार्गमें घुडसवारको ले जाकर पटक देते हैं, परन्तु यदि उनकी लगाम हाथमें हो तो घुडसवार उन घोडोंको ठीक मार्गमें चला सकेगा, उसी तरह विवेकी मानवका कर्तव्य है कि पाँचों इन्द्रियरूपी अश्वोंको अपने वशमें

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रखे। वैराग्यरूपी लगामके द्वारा उनको जिनेन्द्र-कथित धर्मके भीतर जोड देवे। वैराग्यके बिना इंद्रियसुखकी चाह कभी नहीं मिट सकती है। वैराग्यके प्रभावसे ही धर्मकी उन्नति होती है।

अक्षाण्येव स्वकीयानि शत्रवो दुःखहेतवः ।
विषयेषु प्रवृत्तानि कषायवशवर्तिनः ॥७९॥

अन्वयार्थ–(कषायवशवर्तिनः) कषायोंके वशमें रहनेवाली (अक्षाणि) इंद्रियाँ (एव) ही (विषयेषु प्रवृत्तानि) विषयोंमें रत होती हुई (दुःखहेतवः) दुःखोंका कारण है और (स्वकीय शत्रवः) वे अपने आत्माकी शत्रु हैं।

भावार्थ–आत्माके मूल शत्रु क्रोधादि चार कषाय हैं इनमें क्षोभ बहुत बलवान है। लोभके वशीभूत होकर लोभीकी स्पर्शनादि पाँचों इंद्रियाँ अपने अपने भोग्य विषयोंमें निरर्गल रीतिसे प्रवृत्ति करने लगती हैं, जिनसे यहाँ भी विषयवांछारूप आकुलता बढ़ती जाती है। इच्छित विषयोंके न मिलनेसे कष्ट होता है, वियोगका कष्ट होता है, तीव्र रागद्वेषसे तीव्र कर्मोंका बन्ध हो जाता है जिससे प्राणीको भव भवमें दुर्गतिमें जन्म पाकर बहुत असहनीय क्लेश भोगने पड़ते हैं। इसलिए ये इद्रियाँ ही वास्तवमें इस आत्माके लिए शत्रुवत् व्यवहार करती है। जो उनको जीतकर उन्हें अपने आधीन रखता है वही सच्चा वीर है।

इन्द्रियाणां सदा छन्दे वर्तते मोहसङ्गतः ।
तदात्मैव भवेत्शत्रुरात्मनो दुःखबन्धनः ॥८०॥

अन्वयार्थ–(यदा) जब यह प्राणी (मोहसङ्गतः) मोहकी संगतिसे उन्मत्त होकर (इन्द्रियाणां छंदे) इन्द्रियोंके आधीन (वर्तते) आचरण करता है (तदा) तब (आत्मा एव) यह आत्मा ही (आत्मनः) अपने लिए (दुःखबन्धनः) दुःखोंका कारण होता हुआ (भवेत् शत्रुः) तेरा शत्रु हो जाता है।

भावार्थ–यदि भले प्रकार विचार किया जावे तो यही सिद्ध होगा कि यह आत्मा आप ही अपना बन्धु है और आप ही अपना शत्रु है। जब यह मोहकी मदिरा पीकर आत्महितको भूल जाता है तब यह पाँचों इन्द्रियोंकी चाहके वश होकर मनमाने काम करता है जिनसे पापकर्मोंको बाँध लेता है। पापोंके उदयसे जगतमें कष्ट पाता है। उस समय यह अपने लिए आप ही शत्रु बन जाता है। वास्तवमें इस जीवको कभी भी दुःख नहीं हो सकता है, जब तक इसके पाप कर्मोंका उदय न हो। अपनी करणी, अपनी भरणी यह लोकोक्ति यथार्थ है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इन्द्रियाणिं प्रवृत्तानि विषयेषु निरन्तरम् ।
सज्ज्ञानभावनाशक्त्या वारयन्ति हिते रताः ॥८१॥

अन्वयार्थ–(इन्द्रियाणि) ये इन्द्रियाँ (विषयेषु) अपने अपने विषयोंमें (निरन्तरम्) निरन्तर (प्रवृत्तानि) प्रवृत्ति किया करती हैं। जो इनको (सज्ज्ञानभावनाशक्त्या) सम्यग्ज्ञानकी भावनाके बलसे (वारयन्ति) रोकते हैं वे (हिते) आत्महितमें (रताः) रत हो जाते हैं।

भावार्थ–इन्द्रियोंका स्वभाव चंचल है। ये निरन्तर अपने-अपने इष्टभोगोंकी कामनाएँ किया करती हैं और पदार्थोंको प्राप्त कर उनको भोगा करती है। ज्ञानी जीव सम्यग्ज्ञानके द्वारा इनके अयोग्य स्वभावका विचार करते हैं कि उनके वश हो जाऊँगा तो अपना आत्मकल्याण नहीं हो सकेगा। अतः इनको रोककर अपने आधीन रखना ही श्रेयस्कर है। इनको वशमें रखनेसे इनसे वे ही काम लिए जा सकते हैं जिनसे आपकी उन्नतिमें सहायता मिले। बुद्धिमान वे ही हैं जो इनकी स्वच्छन्द प्रवृत्तिको रोककर आत्मकल्याणमें सदा लीन रहते हैं।

इन्द्रियेच्छारुजामज्ञः कुरुते यो ह्युपक्रमम् ।
तमेव मन्यते सौख्यं किं तु कष्टमतः परम् ॥८२॥

अन्वयार्थ–(यः अज्ञः) जो अज्ञानी जीव (इन्द्रियेच्छारुजाम्) इन्द्रियोंके इच्छारूपी रोगोंका (उपक्रमम्) उपाय (हि) निश्चयसे (कुरुते) करता रहता है और (तम् एव) उसीको (सौख्यं) सुख (मन्यते) मानता है (अतः परं) इससे बढ़कर (कष्टं) दुःखकी बात (किं तु) और क्या हो सकती है ?

भावार्थ–वास्तवमें इन्द्रियोंकी इच्छाएँ रोग हैं उन रोगोंकी शांतिका उपाय आत्मानन्दका भोग तथा वैराग्य है। तथापि अज्ञानसे या पूर्व-संस्कारसे उन इच्छाओंके मिटानेके लिए यह प्राणी इन्द्रियोंके विषयोंको भोगनेमें प्रवृत्त होता है और उसीमें ही सुख मान लेता है, यही इसकी भूल है। जैसे रोग हितकारी नहीं होते वैसे रोगको बढ़ानेवाली दवा भी हितकारी नहीं हो सकती। विषयभोगसे इच्छारोग बढ़ता जाता है। ज्ञानी गृहस्थ भी आवश्यकतानुसार आकुलित होकर न्यायपूर्वक विषयभोग करता है। परन्तु उन इन्द्रियोंके भोगोंको और उनके सुखको त्यागने योग्य तथा आगामी दुःखोंका कारण जानता है। इससे जितना-जितना उसके वैराग्य बढ़ता जाता है उतनी उतनी विषयेच्छा भी घटती जाती है। सच्चा सुख आत्माका स्वभाव है। उसकी ऐसी श्रद्धा होनेसे ज्ञानीके न्यायपूर्वक किये

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हुए भोग अहितकारी नहीं होते हैं, तीव्र बन्ध नहीं करते हैं। जबकि अज्ञानीको विषय-भोगोंकी ही श्रद्धा होती है, वह विषयभोगोंमें ही सुख मानता है। इसलिए विषयभोगोंकी रातदिन चाह रखता है और उनका सेवन करता है। उनके पीछे ऐसा उन्मत्त हो जाता है कि धर्माचारको नहीं करता है। इससे तीव्र पापके फलसे दुर्गतिमें घोर कष्ट पाता है।

आत्माभिलाषरोगाणां यः शमः क्रियते बुधैः ।
तदेव परमं तत्त्वमित्यूचुर्ब्रह्मवेदिनः ॥८३॥

अन्वयार्थ–(बुधैः) बुद्धिमान लोग (आत्माभिलाषरोगाणां) अपने इच्छारूपी रोगोंका (यः शमः) जो शमन (क्रियते) करते हैं अर्थात् उनसे हटाकर अपनी श्रद्धाको आत्मस्वरूपकी ओर लगाते हैं, (तत् एव) वह ही (परमं तत्त्वं) परम तत्त्व है (इति) यह बात (ब्रह्मवेदिनः) ब्रह्मज्ञानी संतोंने (ऊचुः) कही है।

भावार्थ–आत्मज्ञानी साधुओंने भले प्रकार अनुभव करके यह बात जानी है कि इन्द्रियोंकी इच्छाएँ इन्द्रियोंके भोगोंसे नहीं मिटती है प्रत्युत बढ़ती है। किन्तु आत्मध्यान द्वारा स्वात्मानन्दके भोगसे मिटती है। ज्ञान वैराग्य सहित अध्यात्म मनन ही विषय रोगोंकी शांतिकी दवा है। इसलिए वे ही मानव विवेकी हैं जो अतृप्तिकारी इन्द्रियोंके भोगोंमें नहीं फँसते हैं। किंतु उनसे वैराग्यवान होकर परम शांतिके समुद्ररूप निज आत्मिक स्वभावमें निमग्न रहते हैं और उसी चर्चामें लगे रहते हैं। धर्मका परम सार एक आत्मानुभव ही है। यही अनादि विषयकी इच्छारूपी रोगोंकी अचूक दवा है।

इंद्रियाणां शमे लाभं रागद्वेषजयेन च ।
आत्मानं योजयेत् सम्यक् संसृतिच्छेदकारणम् ॥८४॥

अन्वयार्थ–(इन्द्रियाणां शमे) इन्द्रियोंकी इच्छाकी शान्ति होनेपर (च रागद्वेषजयेन) और रागद्वेषको जीत लेनेसे (लाभं) आत्माका कल्याण है इसलिए (आत्मानं) अपनेको (सम्यक्) भले प्रकार (संसृतिच्छेद कारणम्) संसारका विनाश करनेवाले दम्भ, दम त्याग, तप और समाधिरूप कारणोंमें (योगयेत्) अपनेको लगाना चाहिए।

भावार्थ–भवसागर अथाह है, दुःखोंका घर है। इसमें गोते खानेका कारण तीव्र पापका बन्धन है। इन्द्रियोंको जो अपने वशमें नहीं रख सकता है, तथा जो रागद्वेषके पाशमें फंसा रहता है, विषयभोगोंको जो उपकारी जान उनमें बड़ा राग करता है और जो विरोधी है उन पर उल्टा द्वेष करता है, वह तीव्र कर्म बाँधनेके कारण संसारसे कभी पार नहीं हो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सकता। इसलिए जो इस असार संसारका अन्त करना चाहते हैं उनका परम कर्तव्य है कि वे इन्द्रियोंकी इच्छाओंको शांत करे, सादा जीवन बितावें; आवश्यक प्राप्त वस्तुमें संतोष रखें, यथाशक्ति मन, वचन, कायको संवरमें रखकर महाव्रत या अणुव्रतका पालन करें और अन्तरङ्गमें आत्मिक रसका स्वाद लें, तो नवीन कर्मका बंध रुकेगा, और अत्यल्प बंध होगा और पुरातन संचित कर्मकी प्रचुर निर्जरा होगी। वीतरागताका अभ्यास उसी क्षण आत्मसुखका अनुभव करायेगा और संसारको छेद करता चला जायेगा।

इन्द्रियाणि वशे यस्य यस्य दुष्टं न मानसम् ।
आत्मा धर्मरतो यस्य सफलं तस्य जीवितम् ॥८५॥

अन्वयार्थ–(यस्य वशे) जिसके वशमें (इन्द्रियाणि) पाँचों इन्द्रियाँ है, (यस्य मानसं) और जिसका मन (दुष्टं न) दुष्ट या दोषी नहीं है, (यस्य आत्मा) जिसका आत्मा (धर्मरतः) धर्ममें रत है (तस्य जीवितम्) उसका जीवन (सफलं) सफल है।

भावार्थ–मानव जीवनकी सफलता ही वही है जहाँ आत्मा कर्मोदयजन्य साता परिणतिमें सन्तोष रखता है और प्रतिकूल सामग्रीके मिलने पर भी असन्तुष्ट नहीं होता; किन्तु वास्तविक सुख-शान्तिके लिए प्रयत्नशील रहता है। धर्माचरण करते हुए भी इच्छाशक्तिके दमनमें शिथिल नहीं होता। किन्तु जब आत्मा इच्छा-शक्तिके दमनमें अशक्त हो जाता है तभी वह इन्द्रिय-विषयोंके जालमें फँस जाता है और संसार वृद्धिके कार्योंमें तन्मय हो जाता है और तभी वह दुःखका पात्र बनता है। अतः जो व्यक्ति पाँच इन्द्रियाँ और मनको स्वाधीन रखता है उनकी स्वच्छन्द प्रवृत्तिको रोक देता है तथा जो अपने जीवनके समयको धर्मके साधनमें लगाता है, मुनि या श्रावकका चरित्र बड़े उत्साहसे सम्यग्दर्शन सहित पालता है उस ही महात्माका नरजन्म पाना उपयोगी है।

परनिन्दासु ये मूका निजश्लाघापराङ्मुखाः ।
ईदृशैर्ये गुणैर्युक्तास्ते पूज्याः सर्वविष्टपे ॥८६॥

अन्वयार्थ–(ये) जो व्यक्ति (परनिन्दासु) दूसरोंकी निन्दा करनेमें (मूकाः) मौन रखते हैं (निजश्लाघापराङ्मुखाः) तथा अपनी प्रशंसासे उदासीन हैं, कभी अपनी बड़ाई नहीं करते हैं और (ये) जो (ईदृशैः गुणैः) इस प्रकारके गुणोंसे (युक्ताः) युक्त हैं (ते) वे (सर्वविष्टपे) सर्व लोकमें (पूज्याः) पूज्यनीय हैं।

भावार्थ–वही ज्ञानी है जो दूसरोंके दोषोंके ग्रहणमें व उनके वर्णनमें उदासीन है तथा अपने भीतर गुण होते हुए भी अपना गुणगान नहीं करते

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हैं। वे यह समझते हैं कि जब तक मेरेमें अज्ञानका व रागद्वेषका किंचित् भी अंश मौजूद है तब तक हम अपनी प्रशंसा क्या करें ? अपवित्र दशामें जरा भी शोभा नहीं देता। इसलिए जब तक हम पूर्ण पवित्र न हों, हम प्रशंसनीय नहीं कहला सकते। जो प्राणी दोष कर लेते हैं वे आत्मबलकी कमीसे कषायोंके उदयके आधीन हो जाते हैं, वे कषायोंको रोकते नहीं, इसलिए वे दयाके पात्र हैं, निन्दाके पात्र नहीं। उनकी निन्दा तो तब की जावे जब आप इन दोषोंसे खाली हों। अनादिकालीन संसारमें यह प्राणी बराबर अनेक दोषोंको कर चुका है अतएव मेरा दूसरोंकी निन्दा करना अज्ञान है। इसलिए संत पुरुष परनिन्दा आत्मप्रशंसा न करके जिस उपायसे अपने गुण बढ़े, दोष छूटे और दूसरोंके गुण बढ़ें, दोष छूटे उस उपायको अपना कर्तव्य जानकर करते हैं, वृथा बकवाद नहीं करते हैं। ऐसे सज्जन ही लोकमें सम्मानके पात्र होते हैं।

प्राणान्तिकेऽपि सम्प्राप्ते वर्जनीयानि साधुना ।
परलोकविरुद्धानि येनात्मा सुखमश्नुते ॥८७॥

अन्वयार्थ–(प्राणान्तिके अपि सम्प्राप्ते) प्राणोंके अन्त होनेपर भी (साधुना) साधुको (परलोकविरुद्धानि) परलोकसे विरुद्ध कार्योंको (वर्जनीयानि) त्याग देना चाहिए। (येन) इसी उपायसे (आत्मा) यह आत्मा (सुखं) सुखको (अश्नुते) भोग सकता है।

भावार्थ–मिथ्यात्व, अन्याय, अभक्ष्य, अविरतिभाव, प्रमाद, कषाय, मन, वचन, कायका अन्यथा वर्तन अकरणीय कार्योंके करनेसे ऐसा पापका बंध होता है जिनके उदयसे यह प्राणी एकेंद्रियादि अशुभ पर्यायोंमें पहुँचकर घोर कष्ट सहता है। इसलिए वही साधु है जो इन सब कार्योंको मन, वचन, कायसे छोडकर संयम और तप सहित आत्माके शुद्ध स्वभावका मनन या अनुभव करता है। यही वह उपाय है जिसमें वर्तमानमें भी सुख होगा और भविष्यमें भी सुखकी प्राप्ति रहेगी।

संमानयति भूतानि यः सदा विनयान्वितः ।
स प्रियः सर्वलोकेऽस्मिन्नापमानं समश्नुते ॥८८॥

अन्वयार्थ–(यः) जो (सदा विनयान्वितः) विनयवान है (सः) वह (भूतानि) प्राणीमात्रका (संमानयति) सम्मान करता है। (सः) वह (अस्मिन् सर्वलोके) इस सर्व लोकमें (प्रियः) प्रिय माना जाता है (अपमानं) वह अपमान (न समश्नुते) नहीं भोगता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थ—धर्मात्मा वही है जो वस्तुओंका यथार्थ स्वरूप समझे, जिसको कर्मके अच्छे बुरे फलका भले प्रकार ज्ञान हो। ऐसे ज्ञानी जीवको विनयवान होना चाहिए। वह किसीको घृणाकी दृष्टिसे नहीं देखता है। अज्ञानी, दुःखी, दरिद्री, रोगीको देखकर उसपर करुणा व मैत्रीभाव लाता है। दूसरोंको दुःखी देखकर उनका दुःख कैसे दूर करूँ यह भाव रखता है। वह बड़ोंकी भक्ति करके विनय करता है। छोटोंकी उनके साथ प्रिय वचन कहकर व उनके कष्ट निवारण करके विनय करता है। वह किसीका अपमान नहीं करता है। ऐसा विवेकी विनयवान जीव जगतके सर्व प्राणीमात्रका यथोचित सम्मान करता हुआ जगतका प्यारा बना रहता है। सब जगतके प्राणी उसको प्यार करते हैं। वह कभी किसीके द्वारा निरादरको नहीं पाता है। जो विनयवान है वही यथार्थ मानव है। किसीका तिरस्कार करना मनुष्यता नहीं है। पापी दुष्ट भी विनय सहित व्यवहारसे लज्जित होकर अपना सुधार कर लेता है। मैत्रीयुक्त मन और मैत्रीयुक्त वचन सर्व हितकारी होते हैं।

किम्पाकस्य फलं भक्ष्यं कदाचिदपि धीमतां ।
विषयास्तु न भोक्तव्या यद्यपि स्युः सुपेशलाः ।।८९।।

अन्वयार्थ—(कदाचिदपि) कदाचित् (किम्पाकस्य फलं) किंपाक-फलको, जो खानेमें स्वादिष्ट हो किंतु विषवत् हो ऐसे फलको (भक्ष्यं) खा लेना ठीक है (तु) परन्तु (धीमतां) बुद्धिमानको (विषयाः) इन्द्रियोंके भोगयोग्य पदार्थ (यद्यपि) यद्यपि (सुपेशलाः स्युः) बड़े ही सुन्दर हो तो भी (न भोक्तव्यः) नहीं भोगने चाहिए।

भावार्थ—इन्द्रायण आदिके ऐसे फल होते हैं जो देखनेमें अच्छे व खानेमें मीठे होते हैं परन्तु उनका विपाक रोगकारक व प्राणघातक होता है। उन फलोंको कभी नहीं खाना चाहिए; परन्तु कदाचित् ऐसा फल खा भी लिया जावे तो वर्तमान शरीरका ही नाश होगा। इन्द्रियोंके विषयभोग तो इनसे भी अधिक बुरे हैं। सुन्दर विषयभोगोंकी सामग्री प्राप्त होती हो तो भी बुद्धिमानको उनसे बचना चाहिए; क्योंकि वे भोग ऐसी तृष्णाका विष चढ़ा देंगे जिससे जन्मजन्ममें दुःख प्राप्त होगा। इसलिए ज्ञानीको विषयोंके भोगोंसे बचना चाहिए। इन्द्रियोंको वश रखके धर्मसाधनके उपकारी कार्योंमें उनको लगाए रखना चाहिए। ये भोग किंपाक फलसे भी अत्यंत अनिष्टकारक हैं—भोगनेमें अच्छे लगते हैं किंतु भविष्यमें आत्माके लिए दुःखदायक है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कामवासनाकी असारता

स्त्रीसंपर्कसमं सौख्यं वर्णयन्त्यबुधा जनाः ।
विचार्यमाणमेतद्धि दुःखानां बीजमुत्तमम् ॥९०॥

अन्वयार्थ—(अबुधाः जनाः) अविवेकी मानव (स्त्रीसंपर्कसमं) स्त्रीके ससर्गको (सौख्यं) सुख (वर्णयन्ति) कहते हैं। (विचार्यमाणं) किन्तु विचार किया जावे तो (एतत् हि) यह ही (दुःखानां) दुःखोंके (उत्तमं बीजं) बड़े भारी बीज हैं।

भावार्थ—जिनको दीर्घ विचार नहीं है, जो क्षणिक सुखमें लुब्ध हैं वे यही कहते हैं कि स्त्री-भोगके समान सुख नहीं है। वे अन्ध होकर स्त्री-भोग किया करते हैं। यदि सम्यक् प्रकारसे विचार किया जावे तो यह उनकी मान्यता ठीक नहीं है। स्त्री-भोगके सुखको सुख मानना वास्तवमें किम्पाक फलका खाना है। कामविकारसे पीडित होकर यह प्राणी जब दुःखित होता है तब उस पीडाको शांत करनेको स्त्रीसंभोग करता है। वह स्त्री उसके वीर्यरूपी रत्नको हरकर उसे तुर्त निर्बल कर देती है तथा पुनः भोग करनेकी दाहको उत्पन्न कर देती है। उस दाहसे पीडित होकर यह पुनः स्त्रीभोग करके अतिशय निर्बल हो जाता है। निर्बलको अनेक रोग सताते हैं, वह रोगी हो जाता है, तब खाया पीया भी नहीं जाता। यह मानव-जीवन बिगड जाता है, धर्मका साधन न कर सकनेके कारण और स्त्री-भोगकी तृष्णा बनी रहनेके कारण वह कुगतिमें जाकर दुःख उठाता है। अन्यायपूर्वक स्त्री-भोग तो महान अनर्थकारी है ही। शरीरशक्ति, धन, आत्मबल, धर्म, यश सर्व नाश करनेवाला है, परन्तु जो न्यायपूर्वक अपनी स्त्रीका ही भोग अति कामी होकर करते हैं वे भी निर्बल रोगी हो दुःख पाते हैं, धर्मरहित जीवन बिताते हैं। अतएव स्त्रीसंभोग सुख नहीं है। काम बाधाका क्षणिक झूठा उपाय है। इसका सर्वथा त्याग ही श्रेष्ठ सुखका कारण है। यदि कदाचित् आत्मबलकी कमीसे ऐसा न हो सके तो गृहस्थमें स्वस्त्री-संतोष रखके केवल संतानलाभके हेतु बहुत अल्प स्त्रीसंभोग करे, जिससे धर्म, अर्थ, काम पुरुषार्थ न बिगड़े, शरीर स्वास्थ्ययुक्त रहे, वीरतापूर्ण जीवन बीते, और स्वस्त्रीभोगमें संतोषसहित प्रवृत्ति करे। वीर्यरक्षा और ब्रह्मचर्यके समान कोई सुखदायी वस्तु नहीं है।

स्मराग्निना प्रदग्धानि शरीराणि शरीरिणाम् ।
शमाम्भसा हि सिक्तानि निवृत्तिं नैव भेजिरे ॥९१॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्वयार्थ–(शरीरिणाम्) शरीरधारी प्राणियोंके (शरीराणि) शरीर (स्मराग्निना) कामकी अग्निसे (प्रदग्धानि) जला करते हैं (शमाम्भसा) शांत जलसे (हि) भी (सिक्तानि) सींचे जावें (निवृत्तिं न एव भेजिरे) तो भी शान्त नहीं होते हैं –उनको आराम नहीं मिल पाता।

भावार्थ–कामका उद्वेग जब चढता है, जब किसी स्त्रीके स्नेहके कारण कामकी अग्नि मनमें जल उठती है तब मनके साथ शरीर भी जलने लग जाता है, दीर्घ उष्ण श्वास निकलने लगते हैं। किसी भी तरह चैन नहीं पडती है। उस कामी मानवको कितने भी शीतल जलसे स्नान कराया जावे तो भी कामकी जलन नहीं मिटती है। कामकी दाहके मिटानेका उपाय कामभोग भी नहीं है। मात्र ज्ञानवैराग्य सहित आत्मानंदका भोग है, अतः ज्ञानवैराग्यके साथ इच्छाशक्तिका दमन करना आवश्यक है, उससे इन्द्रिय-सुखोंसे अरुचि हो जाती है, उसी समय विवेक जागृत होता है और तब आत्माकी ओर दृष्टि जाती है। जब अतीन्द्रिय आनंदका गहरा स्वाद आने लगता है तब कामभावका सहज ही शमन हो जाता है।

अग्निना तु प्रदग्धानां शमोस्तीति यतोऽत्र वै ।
स्मरवह्निप्रदग्धानां शमो नास्ति भवेष्वपि ॥९२॥

अन्वयार्थ–(यतः) क्योंकि (अत्र वै) इस लोकमें (अग्निना प्रदग्धानां) आगसे जलनेवालोंकी (तु शमः अस्ति इति) तो शान्ति हो ही जाती है परन्तु (स्मरवह्नि-प्रदग्धानां) जो कामवासनाकी आगसे जलते रहते हैं उनकी (शमः) शान्ति (भवेषु अपि) भवभवमें भी (नास्ति) नहीं होती।

भावार्थ–आगको शांत करनेका उपाय जल है। यदि कोई मानव आगसे जल रहा हो उसको यदि जलसे नहला दिया जावे तो वह तुर्त शीतल हो जायेगा, इसमें सन्देह नहीं है। परन्तु जिसके मनमें कामकी ज्वाला धधकती है वह अनन्त जन्मोंमे भी शांत नहीं होती, चाहे कामभोग किया जावे या न किया जावे, क्योंकि कामभोग करनेसे और भी कामकी तृष्णा बढ जाती है। इसलिए इस भयंकर आगको शान्त करनेका उपाय सम्यग्ज्ञान और वैराग्यका रुचिपूर्वक सेवन है, अन्य कोई उपाय नहीं है।

मदनोऽस्ति महाव्याधिर्दुश्चिकित्स्यः सदा बुधैः ।
संसारवर्धनेऽत्यर्थं दुःखोत्पादनतत्परः ॥९३॥

अन्वयार्थ–(मदनः) कामवेदना (महाव्याधिः) बड़ा भारी रोग है (सदा) सदा ही (दुश्चिकित्स्यः) इसका इलाज कठिन है (संसारवर्धने) संसारको बढानेमें

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(अत्यर्थं) अतिशयरूप है (दुःखोत्पादनतत्परः) और सांसारिक दुःखोंको उत्पन्न करता ही रहता है (बुधैः) ऐसा बुद्धिमानोंने कहा है।

भावार्थ—अन्य सब रोगोंका इलाज है, वे उत्तम पथ्य और औषधिके सेवनसे मिट जाते हैं, लेकिन काम रोग ऐसा भयंकर नाइलाज रोग है कि उसके दूर करनेके लिए कोई बाहरी पदार्थका सेवन कार्यकारी नहीं होता। स्त्रीसेवनसे भी नहीं मिटता है, बढता ही जाता है तथा इसकी तृष्णाके कारण अनन्तानुबंधी कषाय और मिथ्यात्व कर्मका बन्ध होता है जिससे संसारवास बढता जाता है। कामकी तृष्णा अन्याय करनेके भाव भी जागृत कर देती है। जैसे रावणका मन रामकी स्त्री सीतापर आसक्त हो गया। तब उस प्राणीको नरक-तिर्यंचगतिका बंध पडता है; दुर्गतिमें जाकर उसे महान् कष्ट प्राप्त होता है। पूर्व संस्कारवश कामकी ज्वाला न मिटनेसे परम्परा दुःखोंकी प्राप्ति चलती ही जाती है।

यावदस्य हि कामाग्निः हृदये प्रज्वलत्यलम् ।
आस्रवन्ति[1] हि कर्माणि तावदस्य निरन्तरम् ॥९४॥

अन्वयार्थ—(यावत्) जब तक (अस्य) इस जीवके (हृदये) मनमें (कामाग्निः) कामकी ज्वाला (अलं प्रज्वलति) तीव्रतासे जलती रहती है (तावत्) तब तक (अस्य) इस जीवके (निरन्तरम्) निरन्तर (कर्माणि आस्रवन्ति हि) आस्रव होता ही रहता है—अर्थात् कर्म आते ही रहते हैं।

भावार्थ—कामकी ज्वाला बड़ी ही दुःखदायक है। इसके कारण परिणाम कभी रागी, कभी द्वेषी और कभी मोही हो जाते हैं, जिनसे निरन्तर कर्मोंका आस्रव हुआ ही करता है। विषयोंकी तीव्र अभिलाषा, विषयलम्पटता अशुभोपयोग है। इससे पाप-कर्मोंका, असातावेदनीयादिका और मिथ्यात्व अनन्तानुबंधी कषायादिका तीव्रबन्ध होता है, जिससे भवभवमें कष्ट होता है।

कामाहिदृढदष्टस्य तीव्रा भवति वेदना ।
यया सुमोहितो जन्तुः संसारे परिवर्त्तते ॥९५॥

अन्वयार्थ—(कामाहिदृढदष्टस्य) जिस किसी जीवको कामरूपी नाग डस लेता है उसको (तीव्रवेदना) घोर पीडा (भवति) होती है (यया) जिस तीव्र वेदनासे (सुमोहितः) मूर्छित होता हुआ (जन्तुः) यह प्राणी (संसारे) इस संसारमें (परिवर्त्तते) एक गतिसे दूसरी गतिमें चक्कर लगाया करता है।

पाठान्तर—१. आश्रयन्ति।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थ—काले नागके डसनेसे जो विष चढ़ता है उससे तो वर्तमान शरीरका ही क्षय होता है परन्तु जिसको कामरूपी सर्प डस लेता है उसको तीव्र रागरूपी ऐसा विष चढ़ता है कि वह भवभवमें शान्त नहीं होता है। विषयोंकी लम्पटताके कारण यह जीव तीव्र कर्म बाँध लेता है। और उनके विपाकसे जन्मजन्ममें भ्रमणकर अनेक प्रकारके शारीरिक और मानसिक कष्ट भोगता है। कभी लब्ध्यपर्याप्तक होकर एक श्वासमें अठारहवार जन्मता व मरता है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भाव पांच परिवर्तनोंमें अनंत वार जन्म करानेवाला तीव्र विषयानुराग ही है।

दुःखानामाकरो यस्तु संसारस्य च वर्धनम् ।
स एव मदनो नाम नराणां स्मृतिसूदनः ॥९६॥

अन्वयार्थ—(यस्तु) जो मदन (दुःखानां) दुःखोंकी (आकरः) खान है (च संसारस्य वर्धनम्) तथा जिससे संसारकी वृद्धि होती है (स एव) वह ही (मदनः नाम) कामदेव नामका शत्रु है (नराणां) और वह मानवोंकी (स्मृतिसूदनः) स्मरणशक्तिको नाश करनेवाला है।

भावार्थ—कामविकारको मदन कहते हैं। यह अनंत दुःखोंकी खान है। इसके कारणसे इस लोकमें भी जीव दुःखी होता है व परलोकमें भी दुःखी होता है। कामवासनाके कारण धर्मकी वासना अपना दृढ प्रभाव नहीं जमा पाती है। इससे संसारमें भ्रमण बढ़ता ही जाता है तथा कामकी ज्वालासे शरीरका रुधिर सूखता है, वीर्य शक्ति कम होती है, इसीसे स्मरण शक्तिपर भी बुरा असर पड़ता है। यह कामभाव शरीर, मन, बुद्धि, आत्मा सर्वका नाश करनेवाला मदन नामका महान शत्रु है।

संकल्पाच्च समुद्भूतः कामसर्पोऽतिदारुणः ।
रागद्वेषद्विजिह्वोऽसौ वशीकर्त्तुं न शक्यते ॥९७॥

अन्वयार्थ—(कामसर्पः) कामरूपी साँप (अतिदारुणः) अत्यन्त भयानक है (संकल्पात् च समुद्भूतः) और अन्तरङ्ग विचारसे ही उत्पन्न होता है, (असौ रागद्वेषद्विजिह्वः[1]) इसके रागद्वेषरूपी दो जिह्वा (जीभ) हैं (वशीकर्त्तुं न शक्यते) इसका वश करना बहुत कठिन है।

भावार्थ—तीव्र वेदके उदयसे अन्तरङ्गमें जब कामका वेग उदित होता है तब जीवात्मा अपने स्वरूपसे विचलित हो जाता है, उस समय अज्ञान और अविवेक उसकी सहायता करते हैं। यह भयानक इसलिए है कि धर्म,

१. 'द्विजिह्वः' का अर्थ सर्प भी होता है।

५४५६ ए
Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्थ पुरुषार्थको नाश कर देता है, बुद्धिको विकारी बना देता है। तब इष्ट स्त्री आदि पदार्थोंमें राग बढ़ जाता है। कामभावकी तृप्तिमें जो पदार्थ बाधक होते हैं उनमें द्वेष बढ़ जाता है। तब जिसका आत्मबल निर्बल है वह मार्गसे गिर जाता है। इसको आधीन रखनेके लिए बहुत बड़े पुरुषार्थकी आवश्यकता है। उसके बिना वह विजित नहीं हो सकता।

दुष्टा येयमनङ्गेच्छा सेयं संसारवर्धिनी ।
दुःखस्योत्पादने शक्ता शक्ता वित्तस्य नाशने ॥९८॥

अन्वयार्थ–(या इयं) जो यह (अनङ्गेच्छा) कामभावकी इच्छा है (सा दुष्टा) वह दुष्ट है (इयं) और यह (संसारवर्धिनी) संसार बढानेवाली है। (दुःखस्य) दुःखोंके (उत्पादने) पैदा करनेमें (शक्ता) समर्थ है और (वित्तस्य) धनके (नाशने) विनाश करनेमें (शक्ता) भी सक्षम है।

भावार्थ–कामभावकी तीव्रता दुष्टके समान व्यवहार करती है। दुष्टका जितना आदर किया जाता है वह उतना ही अपना बुरा करता है। इसी तरह कामभावके अनुसार जितना अधिक वर्तन किया जाता है उतनी ही कामकी पीडा बढती जाती है। इसके आधीन जो मानव हो जाता है उसको इष्टवियोगके व शरीरके रोगिष्ट होनेके दुःख ही दुःख होते हैं। तीव्र कषायकी वृद्धिसे संसारमें भ्रमण करानेवाले कर्मोंका बंध इतना बढ़ता है कि संसारका पार करना उसके लिए कठिन हो जाता है।

अहो ते धिषणाहीना ये स्मरस्य वशं गताः ।
कृत्वा कल्मषमात्मानं पातयन्ति भवार्णवे ॥९९॥

अन्वयार्थ–(अहो) बड़े खेदकी बात है कि (ये) जो कोई (स्मरस्य) कामके (वशं गताः) वश हो जाते हैं (ते) वे (धिषणाहीनाः) बुद्धिहीन हैं (आत्मानं) अपनेको (कल्मषं) पापी (कृत्वा) बनाकर (भवार्णवे) संसारसागरमें (पातयन्ति) गिरा देते हैं।

भावार्थ– मानव जीवनकी सफलता अपने आत्माकी उन्नतिसे है कि जिससे यह आत्मा अशुद्धतासे शुद्धताको प्राप्त कर ले, तब फिर अनेक जन्मोंमें जन्म-मरण न करना पड़े। यह कार्य तब ही हो सकता है जब कामभावको जीतकर बाह्यमें ब्रह्मचर्य पालता हुआ अन्तरंग ब्रह्मचर्यको पाले, ब्रह्मस्वरूप आत्मामें लीन हो आत्मानन्दका भोग करे। जो अज्ञानी कामभोगके आधीन होकर निरन्तर विषयवांछासे और कषाय भावसे आकुलित रहते हैं वे पापकर्मोंका संचय कर लेते हैं और कषायभावसे निगोदमें तथा नरकमें गिरा देते हैं। फिर आत्मोन्नतिके लिए मनुष्यजन्मका उत्तम अवसर पाना

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उनके लिए दुर्लभ हो जाता है। अतएव जो विषयलम्पटी हैं वे मूर्ख हैं।

स्मरेणातीवरौद्रेण नरकावर्तपातिना ।
अहो खलीकृतो लोको धर्मामृतपराङ्मुखः ॥१००॥

अन्वयार्थ–(अहो) बड़े खेदकी बात है कि (नरकावर्तपातिना) नरकरूपी गड्ढेमें पटकनेवाले (अतीवरौद्रेण) अत्यन्त भयानक (स्मरेण) कामने (लोकः) मानवोंको (खलीकृतः) दुष्ट बना दिया है तथा (धर्मामृतपराङ्मुखः) धर्मरूपी अमृतके पानसे छुड़ा दिया है।

भावार्थ–यह काम बड़ा ही भयानक वैरी है। जो इसके आधीन हो जाते हैं वे अन्यायमें प्रवर्तकर नरकवासमें गिर जाते हैं। उनके परिणाम धर्मकी ओरसे बिलकुल दूर हो जाते हैं। उनको इस मानव-जन्ममें कभी धर्मामृतके पीनेका अवसर नहीं मिलता है। उनकी चेष्टा एक दुष्ट मानवके समान हो जाती है जो रातदिन अपने स्वार्थके आधीन होकर परका बुरा करनेमें ग्लानि नहीं मानते हैं।

स्मरेण स्मरणादेव वैरं दैवनियोगतः ।
हृदये निहितं शल्यं प्राणिनां तापकारकम् ॥१०१॥

अन्वयार्थ–(दैवनियोगतः) कर्मोंके तीव्र उदयसे (स्मरेण) कामदेवके द्वारा (स्मरणात् एव) उस कामके स्मरण मात्रसे ही (प्राणिनां हृदये निहितं) प्राणियोंके हृदयमें बैठी हुई (शल्यं) शल्य (तापकारकम्) संतापको उत्पन्न करनेवाली है (वैरं) शत्रुता एवं दूसरोंका अत्यन्त बुरा करनेवाली है।

भावार्थ–कामभावकी तीव्रता जब वेद नोकषायके तीव्र उदयके परिणामोंमें बैठ जाती है तब जब कभी उसका विशेष स्मरण आता है तब कामका काँटासा चुभता है, जिससे घोर दुःख होता है। इष्ट विषयकी ओर परिणाम बड़े आकुलित हो जाते हैं। घबड़ा-घबड़ाकर वह महान कष्ट पाता है। यही कामकी शल्य तीव्र पाप बाँधकर आत्माका अत्यन्त बुरा करनेवाली है।

तस्मात्कुरुत सदवृत्तं जिनमार्गरताः सदा ।
येन सत्खंडितां[1] याति स्मरशल्यं सुदुर्धरम् ॥१०२॥

अन्वयार्थ–(तस्मात्) इसलिए (जिनमार्गरताः) जिनमार्गमें रत रहते हुए (सदा) निरन्तर (सद्वृत्तं) उस सम्यक्चारित्रका (कुरुत) पालन करो (येन) जिस सम्यक्चारित्रके द्वारा (सुदुर्धरम्) अत्यन्त कठिन (स्मरशल्यं) कामरूपी शल्यके (सत्खंडितां याति) सैंकड़ों टुकड़े हो जाते हैं।

पाठान्तर–१. तत्खण्डशो।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थ–जब कामभावका काँटा दिनरात चुभा करता है तब इस काँटेको निकालकर फेंक देना ही उचित है। यद्यपि इसका निकलना बड़ा कठिन है तथापि यदि सम्यग्दर्शनपूर्वक चारित्रको पाला जावे, व्यवहारमें व्रताचरण करते हुए निज आत्माके शुद्ध स्वरूपका अनुभव किया जावे तो ब्रह्मभावका प्रभाव परिणामोंमें जमता जायेगा और कामकी शल्य खंडित होती जायेगी, इसी अभ्यासके बलसे कामशल्य बिलकुल निकल जायेगी। अतएव जिनधर्मका श्रद्धापूर्वक आराधन करना आवश्यक है।

चित्तसंदूषणः कामस्तथा सद्गतिनाशनः।
सद्वृत्तध्वंसनश्चासौ कामोऽनर्थपरम्परा॥१०३॥

अन्वयार्थ–(कामः) यह कामभाव (चित्तसंदूषणः) चित्तको मलिन करनेवाला है (तथा सद्गतिनाशनः) तथा शुभगतिका नाशक है। (च सद्वृत्तध्वंसनः) और सम्यक्चारित्रको भ्रष्ट करनेवाला है। (असौ कामः) यह काम (अनर्थपरम्परा) अनर्थोंकी परंपराको चलानेवाला है।

भावार्थ–यह कामभाव आत्माका महान वैरी है। मनको ऐसा क्षुभित और मलिन कर देता है कि जिससे विवेकभाव नष्ट हो जाता है। परिणाम इतने गन्दे हो जाते हैं कि जिससे शुभगतिका बन्ध न होकर दुर्गतिका बन्ध हो जाता है। जो कोई यथार्थ चारित्रको पालता है और वह कामभाव जागृत करनेवाले निमित्तोंसे नहीं बचता है तो कामका उदय प्रायः उसका भाव बिगाड देता है जिससे उसका चारित्र विनष्ट हो जाता है। अतएव काम-वैरीके वश होना ही अनर्थकर है। फिर एक अनर्थसे दूसरे अनर्थ पैदा हो जाते हैं।

दोषाणामाकरः कामो गुणानां च विनाशकृत्।
पापस्य च निजो बन्धुः परापदां चैव संगमः॥१०४॥

अन्वयार्थ–(कामः) यह काम (दोषाणां) दोषोंकी (आकरः) खान है (च गुणानां विनाशकृत्) और गुणोंको नाश करनेवाला है, (पापस्य) पापका (निजः बन्धुः) निजबन्धु है (च एव) और यही (परापदां) बड़ी-बड़ी आपत्तियोंका (संगमः) संगम करानेवाला है।

भावार्थ–आत्माके ज्ञान, क्षमा, मृदुता, ऋजुता, शौच, संतोष आदि गुण हैं, वे कामभावके कारण नाश हो जाते हैं तथा इनके विरोधी अनेक दोष आकर जमा हो जाते हैं। जहाँ कामभाव है वहाँ पापोंका सदा बंध होता है। तथा कामी जीवका आचरण ऐसा आपत्तिजनक हो जाता है

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जिससे बड़े-बड़े संकट आकर उसे घेर लेते हैं; वह राज्यदंड, पंचदंडको पाता है, जगतमें अपयशका पात्र हो जाता है। काम आत्माका महान शत्रु है।

पिशाचेनैव कामेन छिद्रितं सकलं जगत् ।
बंभ्रमेति परायत्तं भवाब्धौ स निरन्तरम् ॥१०५॥

अन्वयार्थ–(पिशाचेन इव) भूत पिशाचके समान (कामेन) काम भावने (सकलं जगत्) सर्व जगतके प्राणियोंको (छिद्रितं) दोषी बना दिया है (सः) वह जीव (परायत्तं) कामके आधीन होकर (भवाब्धौ) संसाररूपी सागरमें (निरंतरं) सदा (बंभ्रमेति) भ्रमण किया करता है।

भावार्थ–बड़े-बड़े वीर राजा-महाराजा-योद्धा कामके वशीभूत होकर दोषोंके पात्र बन जाते हैं, दीनहीन चेष्टा बना लेते हैं, घोर अन्याय करने लग जाते हैं, परस्त्रीगामी हो जाते हैं। कामभावके आधीन जो-जो जीव होते हैं वे यहाँ भी बड़ी आकुलतासे जीवन बिताते हैं, आत्मिक सुखशांतिको कभी पाते नहीं हैं और पापकर्मका ऐसा तीव्र बन्ध कर लेते हैं जिससे उनको दीर्घकाल तक नरक-तिर्यञ्चगतिमें अनेक जन्म धर-धरकर संसारमें भ्रमण करना पडता है। यह कामभाव संसारके भ्रमणका प्रबल कारण है।

वैराग्यभावनामंत्रैस्तन्निवार्य महाबलं ।
स्वच्छन्दवृत्तयो धीराः सिद्धिसौख्यं प्रपेदिरे ॥१०६॥

अन्वयार्थ–(स्वच्छन्दवृत्तयः) स्वतन्त्र आचरण रखनेवाले और कामके वश न होनेवाले (धीराः) धैर्यवान मानव (वैराग्यभावनामंत्रैः) वैराग्यभावनारूपी मंत्रोंसे (तत् महाबलं) उस कामके महाबलको (निवार्य) दूर करके (सिद्धिसौख्यं) मोक्षकें आनन्दको (प्रपेदिरे) पा चुके हैं।

भावार्थ–जो विषय-कषायोंके आधीन नहीं हैं किंतु आत्माका हित सदा विचारनेवाले हैं, उन्हींको स्वतंत्र मानव कहते हैं। वे बड़े धैर्यवान होते हैं, वे परिणामोंमें उत्पन्न होनेवाले कामके विकारोंको जीतनेके लिए वैराग्यकी भावना भाते हैं। वे यही विचारते हैं कि कामके सेवनसे कभी कामका रोग शान्त नहीं हो सकता है किन्तु और अधिक कामकी दाह बढ़ जाती है। इसलिए इस अतृप्तिकारी क्षणिक सुखकी आशा छोडकर आत्माके स्वाभाविक आनन्दका लाभ लेना ही हितकर है। कामके वेगको रोकनेमें हित है। जबकि इसके आधीन होनेसे अपना सरासर बिगाड है। मानव-जन्मकी सफलता जिस आत्मोन्नतिसे होती है उसमें तीव्र बाधा खड़ी होती है। मानव-जन्मका पाना अत्यन्त दुर्लभ है। यदि इसमें संयमका

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आराधन न किया तो फिर ऐसे मानव-जन्मका आना कठिन होगा। कामका सेवन भूतकालमें अनेक जन्मोंमें किया है। राजपदमें और देवपदमें बहुत सुन्दर-सुन्दर स्त्रियोंका सेवन किया है। जब उन दिव्यभोगोंसे तृप्ति नहीं हुई तो इस पंचमकालके तुच्छ स्त्रीसंभोगसे कैसे तृप्ति होगी? यह कामका विषयसुख झूठा है, वमन किये हुए अन्नके समान है। ज्ञानीको इसे बिलकुल त्यागकर परमब्रह्मके ध्यानमें मस्त होकर परम सुख लेना चाहिए। प्राचीनकालमें चक्रवर्ती-तीर्थंकरादिने भी स्त्रीभोग त्यागकर वैराग्य ही धारण किया; और जो स्त्रीभोगमें लिप्त रहे वे मरकर नरकादि दुर्गतिमें पहुँचे हैं। इस तरह बारबार अनित्य-अशरणादि बारह भावनाओंके भानेसे कामका विष उसी तरह उतर जाता है जैसे सर्पका विष मंत्रोंके पढनेसे उतर जाता है। जो इस तरह इस विषको उतार देते हैं और आत्मानुभवके द्वारा आत्मानन्दका भोग करते हैं वे एक दिन सिद्ध भगवान होकर अनन्तकाल तकके लिए परमानन्दमें निमग्न रहते हैं और सदाके लिए भवभ्रमणसे छूट जाते हैं।

कामी त्यजति सद्वृत्तं गुरोर्वाणीं ह्रियं तथा।
गुणानां समुदायं च चेतः स्वास्थ्यं तथैव च ॥१०७॥

तस्मात्कामः सदा हेयो मोक्षसौख्यं जिघृक्षुभिः।
संसारं च परित्यक्तुं वाञ्छद्भिर्यतिसत्तमैः ॥१०८॥

अन्वयार्थ—(कामी) कामी मानव (सद्वृत्तं) सम्यक्चारित्रको (गुरोः वाणीं) गुरुकी आज्ञारूपी वाणीको (तथा ह्रियं) तथा लज्जाको (गुणानां समुदायं च) और गुणोंके समूहको (तथैव च चेतः स्वास्थ्यं) तैसे ही मनकी निराकुलताको (त्यजति) छोड देता है (तस्मात्) इसलिए (कामः) यह काम (मोक्षसौख्यं जिघृक्षुभिः) मुक्तिके आनन्दके ग्रहणके इच्छुक (च संसार परित्यक्तुं वाञ्छद्भिः) और संसारके त्यागके वांछक (यतिसत्तमैः) साधुओंके द्वारा (सदा हेयः) सदा ही छोडने लायक है।

भावार्थ—यह कामभाव ब्रह्मचर्यका घातक है, साथ ही और भी अहिंसा-सत्यादि व्रतोंका खंडक है। जो कामके वश हो जाते हैं वे गुरुसे ग्रहण की हुई ब्रह्मचर्य व्रतकी प्रतिज्ञाको त्याग बैठते हैं। कामी मानवके भीतरसे लज्जा चली जाती है। वह कामके वेगसे घबड़ाकर तथा स्त्रियोंकी संगति एकान्तमें करनेसे व उनके साथ कामचेष्टा हास्यादि करनेमें लज्जा नहीं करता है। कामके कलंकसे जो क्षमा, संतोष, शान्ति, ब्रह्मज्ञान, आत्मध्यान, वैराग्य आदि गुण प्राप्त किये थे सब धीरे-धीरे खिसकते जाते

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हैं। चित्तमें समता व निराकुलता कभी नहीं रहती। इष्ट स्त्रीके साथ संसर्ग करनेकी आकुलतामें मन फँसा रहता है। जिन साधु सन्तोंका यह उद्देश्य है कि वे अपने आत्माको इस भयानक संसार-समुद्रसे पार करके ध्रुव व शान्तिमय मुक्तिके आनन्दमें विराजमान कर दे, उनको पूर्ण उद्योग करके कामभावना सदा ही त्याग करनी चाहिए। ब्रह्मचर्यकी पाँच भावनाएँ भानी चाहिए-(१) स्त्रियोंमें राग बढानेवाली कथा न करे, (२) उनके मनोहर अंगोंको रागभावसे न देखे, (३) पूर्वके भोगे भोग याद न करे, (४) कामोद्दीपक रस व भोजन न खावे, (५) अपने शरीरका शृंगार न रखे। जो साधु पाँच भावनाओंको भाते हैं और स्त्री, नपुंसक आदि विकारी पात्रोंका जहाँ आना-जाना न हो ऐसे एकांतमें शयनासन करते हैं वे महात्मा कामभावको जीत लेते हैं।

कामार्थौ वैरिणौ नित्यं विशुद्धध्यानरोधनौ ।
संत्यज्यतां महाक्रूरौ सुखं संजायते नृणाम् ॥१०९॥

अन्वयार्थ-(कामार्थौ) काम और धन **(नित्यं विशुद्धध्यान-रोधनौ)** हमेशा निर्मल ध्यानके रोकनेवाले हैं, **(महाक्रूरौ)** महान दुष्ट हैं, **(वैरिणौ)** आत्माके वैरी हैं, **(संत्यज्यतां)** उन दोनोंको छोड़ देना चाहिए तब **(नृणाम्)** मानवोंको **(सुखं संजायते)** सुख पैदा होता है।

भावार्थ-विषयभोगोंकी लालसा तथा धनकी ममता, धन कमानेकी, संग्रहकी और संरक्षणकी चिन्ता ये दोनों ही निर्मल शुद्ध आत्मध्यानके होनेमें विघ्नकारक हैं। जब कोई ध्यान करने बैठेगा तब धन-सम्बन्धी व कामभोग सम्बन्धी विचार आकर घेर लेंगे। जब संयोग न रहेगा तब उनका स्मरण भी न होगा। अतएव जो मानव आत्मानन्दके वांछक हैं उनका कर्तव्य है कि धन और कामभोगोंका संयोग छोड़कर त्यागी संयमी हो जावें और निराकुल होकर आत्मानुभव करें, तब उनको परम निराकुल आत्मसुखका लाभ होगा।

कामदाहो वरं सोढुं न तु शीलस्य खण्डनम् ।
शीलखण्डनशीलानां नरके पतनं ध्रुवम् ॥११०॥

अन्वयार्थ-(कामदाहः सोढुं वरं) कामकी चाहकी दाहको सह लेना अच्छा है **(तु)** परन्तु **(शीलस्य खंडनं न)** शील या ब्रह्मचर्यका खंडन अच्छा नहीं है। **(शीलखंडनशीलानां)** जो मानव शीलखंडनकी आदत ड़ाल लेते हैं **(ध्रुवं)** निश्चयसे **(नरके पतनं)** उनका नरकमें पतन होता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थ—कामकी चाह मनमें पैदा होती है, उस चाहकी जलनको सह लेना ठीक है। सहनेमें अपना बिगाड नहीं होगा। जैसे कोई गाली दे, सुननेवाला उसको सह ले तब परस्पर कलह व युद्ध होनेका निमित्त नहीं आयेगा। परन्तु यदि नहीं सहे और बदलेमें गाली दे तो परस्पर कलह बढ़ते-बढ़ते मारपीट हो जायेगी। इसी तरह कामकी दाहको सह लेनेसे सहनशीलताकी आदत पडेगी, धीरे-धीरे कामकी दाह शमन हो जायेगी; परन्तु जो कामकी चाहके आधीन शील-खंडन करके स्त्रियोंमें रति करने लगेगा तो उसकी चाहकी दाह अधिक बढ जायेगी व बारबार स्त्री-संभोग करेगा, स्वस्त्री, परस्त्री, वेश्याका विवेक जाता रहेगा। परिणाम तीव्र रागभावसे ऐसे लिप्त हो जायेंगे कि वह मानव नरकायु बाँधकर नरकमें पतन कर घोर दुःख उठाएगा।

कामदाहः सदा नैव स्वल्पकालेन शाम्यति ।
सेवनाच्च महापापं नरकावर्त्तपातनम् ॥१११॥

अन्वयार्थ—(कामदाहः) कामकी जलन (स्वल्पकालेन) थोडे कालमें (शाम्यति) मिट जाती है, (सदा नैव) सदा नहीं रहती। (सेवनात् च) परन्तु कामसेवनसे (महापापं) महान पापका बन्ध होता है, (नरकावर्त्तपातनम्) जो पाप नरकके गड्ढेमें गिरा देता है।

भावार्थ—वेद नोकषायके तीव्र उदयसे कामकी जलन पैदा होती है वह एक अंतर्मुहूर्तसे अधिक एकसी नहीं रहती है। थोडे कालमें अन्य कार्योंकी तरफ उपयोग लग जानेसे और वेदका उदय मन्द हो जानेसे कामकी दाह मिट जाती है। इसलिए कामकी दाहको मिटने देना ही अच्छा है। यह ठीक नहीं है कि कामकी दाह शान्त करनेको स्त्रीसंभोग किया जावे। इससे तो कामकी दाह और अधिक बढ़ेगी और तीव्र रागभावसे नरकमें जाने योग्य पापका बंध होगा, जहाँ बहुत कष्ट भोगना पड़ेगा।

सुतीव्रेणापि कामेन स्वल्पकालं तु वेदना ।
खण्डनेन तु शीलस्य भवकोटिषु वेदना ॥११२॥

अन्वयार्थ—(सुतीव्रेण कामेन अपि) अति तीव्र कामकी दाहसे भी (स्वल्पकालं तु) थोडे ही कालतक (वेदना) पीड़ा रहती है (तु) परन्तु (शीलस्य खंडनेन) ब्रह्मचर्यको खंडित कर देनेसे (भवकोटिषु) करोड़ों जन्मोंमें (वेदना) कष्ट सहने पड़ते हैं।

भावार्थ—बुद्धिमान वही है जो अधिक कष्टको बचाकर थोड़ा कष्ट

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सह ले। काम-सेवन विषफल खानेके समान है। एक फल देखनेमें सुन्दर है, खानेमें मीठा है, परन्तु वह घातक है। उनके खानेकी चाह किसीकी पैदा हो तो उसे उचित है कि उस चाहके कष्टको सह ले परन्तु विषफल कदापि नहीं खावे। जो कुबुद्धि जिह्वाकी लोलुपतासे बिना विचारे विष फल खावेगा वह प्राण गँवायेगा; तथा चाहना कुछ देर पीछे मिट भी जाती है, इसी तरह कामसेवनका भाव भी कुछ देर पीछे मिट जाता है। जो इस दाहके शमनके लिए परस्त्री-सेवनादि पाप-कर्मोंमें प्रवर्तेगा और आत्मधर्मसे विमुख हो जायेगा उसको मिथ्यात्व कर्मके उदयसे करोडों जन्मोंमें जन्म-मरण-रोग-शोकादिसे कष्ट भोगने पडेंगे। इसलिए ज्ञानीका कर्तव्य है कि कामकी वेदनाको ज्ञानके द्वारा शमन करे। उसके पीछे पडकर चारित्रभ्रष्ट न हो।

कामशमनका उपाय

नियतं प्रशमं याति कामदाहः सुदारुणः ।
ज्ञानोपयोगसामर्थ्याद्विषं मंत्रपदैर्यथा ॥११३॥

अन्वयार्थ–(यथा मंत्रपदैः विषं) जैसे मंत्रोंके पदोंके प्रभावसे सर्पका विष उतर जाता है वैसे ही (सुदारुणः कामदाहः) अतितीव्र कामकी दाह भी (ज्ञानोपयोगसामर्थ्यात्) अपने आत्मज्ञानके बलसे (नियतं प्रशमं याति) अवश्य शान्त हो जाती है।

भावार्थ–कामकी दाह कितनी भी तीव्र हो उसको मिटानेका नियमसे यही उपाय है कि तत्त्वज्ञानके साथ आत्मतत्त्वका अभ्यास किया जावे तथा मोक्षका, मोक्षके सुखोंका तथा कामकी असारताका बारबार विचार किया जावे। ज्ञानमें बड़ी शक्ति है। ज्ञान क्षणमात्रमें भावोंको पलट देता है। शास्त्रका अभ्यास भी कामकी दाहको मिटा देता है।

असेवनमनङ्गस्य शमाय परमं स्मृतम् ।
सेवनाच्च परा वृद्धिः शमस्तु न कदाचन ॥११४॥

अन्वयार्थ–(अनङ्गस्य) कामका (असेवनं) नहीं सेवना (शमाय) कामभावकी शांतिका (परमं) बड़ा उपाय (स्मृतं) कहा गया है (च) क्योंकि (सेवनात्) कामसेवनसे (परा वृद्धिः) कामभावकी लगातार बढ़ती होती जाती है (तु कदाचन) परन्तु कभी भी (शमः न) उसकी शांति नहीं होती है।

भावार्थ–जैसे कहीं पर आग जलती हो उसपर यदि तेल, घी, लकड़ी आदिका ईंधन न ड़ाला जावे तो वह आग थोडी देरमें बुझ जायेगी; परन्तु यदि कोई आगके बुझानेके लिए आगमें लकडी आदि ड़ालेगा तो वह आग

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

और अधिक प्रज्वलित हो जायेगी। इसी तरह कर्मोदयसे उठी हुई कामकी दाह अपने आप थोड़ी देरमें बुझ जायेगी, परन्तु कामके सेवन करनेसे तो लगातार बढ़ती ही जायेगी, कभी भी शांत नहीं होगी। अतएव कामकी वेदनाको ज्ञान वैराग्यकी भावनासे मिटाना योग्य है, परन्तु स्त्री-सेवनादि उपाय करना और अधिक काम रोगको बढ़ा लेना है।

उपवासोऽवमौदर्यं रसानां त्यजनं तथा।
अस्नानसेवनं चैव ताम्बूलस्य च वर्जनम् ॥११५॥

असेवेच्छानिरोधस्तु निरनुस्मरणं तथा।
एते हि निर्जरोपाया मदनस्य महारिपोः ॥११६॥

अन्वयार्थ–(उपवासः) खाद्य, स्वाद्य, लेह्य, पेय चार प्रकारका आहार छोड़कर उपवास करना (अवमौदर्यं) भरपेट न खाकर कम खाना (रसानां त्यजनं) दूध, दही, घी, मीठा, तेल, नमक इन छः रसोंका या उनमेंसे कुछ रसोंका त्यागना और स्वादकी कामनारहित भोजन करना (तथा अस्नानसेवनम्) तथा स्नान-विलेपनादि नहीं करना (चैव ताम्बूलस्य च वर्जनम्) तैसे ही पानोंका नहीं खाना (असेवा) काम-भावपूर्वक स्त्रियोंकी सेवा नहीं करना (इच्छानिरोधः) अपनी उठी हुई इच्छाको रोकना (तथा तु निरनुस्मरणं) तथा कामसेवनका बारबार स्मरण नहीं करना (एते हि) ये ही (मदनस्य महारिपोः) कामके महान शत्रु हैं और (निर्जरोपाया) निर्जराके उपाय हैं।

भावार्थ–कामभावके जागृत होनेके लिए बाह्य और अन्तरंग दोनों कारण हैं। बाह्य कारण ही अधिकतर अन्तरङ्ग कारणको जागृत कर देता है। काम वेद कषायकी उदीरणासे होता है। कामकी तीव्रता तब ही होती है जब बाह्य निमित्त मिलाया जाये और शरीरको ऐसा भोजन-पान कराया जावे जिससे कांमकी वासना प्रबल हो जावे। अतएव इस कामभावको आत्माका बड़ा भारी शत्रु समझकर इसके जीतनेके लिए नीचे लिखे उपाय करे।

१. उपवास–महीनेमें चार उपवास करना, धर्मध्यानमें समय लगाना। उपवाससे इन्द्रियमद मिट जाता है, शरीरका विकार शांत हो जाता है। और भी समय-समय पर उपवास करते रहना। कामदेव स्वयं शांत हो जायगा। २. पेटभर कभी नहीं खाना। किन्तु ऊनोदर करना। अल्प भोजनसे भी इन्द्रियाँ वशमें रहती हैं। ३. रसोंको छोड़ते रहना व जीभके चटोरेपनको जीतना, मिष्ट व कामोद्दीपक भोजन व रस न खाना। ४. तैल, उबटन, चंदन, सुगंधादि लगाकर व मल-मलकर स्नान न करना।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्नानसे कामका राग बढ़ता है। ५. ताम्बूल कामभोगको जगानेवाला है इससे पान नहीं खाना। ६. स्त्री-संभोगका निमित्त बचाकर स्त्री-सेवन नहीं करना। ७. इच्छाको ज्ञानके मननसे रोकना। ८. पिछले भोगोंको याद नहीं करना इत्यादि और भी बाहरी साधनोंको रखना। जैसे एकांतमें स्त्रीके साथ नहीं बैठना-उठना, हास्य-वार्तालाप नहीं करना, सादगीसे अपने शरीरको रखना, समयका विभाग करके किसी न किसी उपयोगी काममें लगे रहना। इत्यादि उपायोंसे कामका वेग जीत लिया जाता है।

काममिच्छानिरोधेन क्रोधं च क्षमया भृशं ।
जयेन्मानं मृदुत्वेन मोहं संज्ञानसेवया ॥११७॥

अन्वयार्थ–(इच्छानिरोधेन) इच्छाको रोक करके (कामं) काम भावको (च क्षमया क्रोधं) तथा क्षमाभावसे क्रोधको, (मृदुत्वेन मानं) मार्दवभावसे मानको, (संज्ञानसेवया मोहं) सम्यग्ज्ञानकी सेवासे मोहको (भृशं जयेत्) अच्छी तरह जीते।

भावार्थ–जब कामसेवनका भाव पैदा हो तो उस समय इच्छाको उसी तरह रोक दे जैसे खिड़कीको बंद करके पवनके वेगको रोकते हैं। उस समय विचार करे कि काम आत्माका शत्रु है। इसके वंश हो जाऊँगा तो सर्वस्व गँवाऊँगा। जब कभी क्रोध आ जावे या आनेका निमित्त बने, तब सहनशीलतापूर्वक क्षमाभावसे उसे जीते। प्रायः जब कोई अपना बुरा करता है तब ही क्रोध आता है। अपना बुरा या तो वह करेगा जिसको हमने पहले कुछ हानि पहुँचाई है अथवा कोई मूर्ख करेगा। दोनों ही क्षमाके पात्र हैं। पहली दशामें हम अपने कृत्यका फल भोग रहे हैं, दूसरी दशामें अज्ञानीपर ज्ञानियोंको क्षमा ही कर्तव्य है। धन, अधिकार, विद्या आदिका मान-भाव आवे तब इन सबको क्षणभंगुर जानकर मान न करे, विनय गुणको पाले, सबके साथ कोमलतासे वर्ते। सांसारिक पदार्थोंके भीतर मोह सताये तब शास्त्रके द्वारा तत्त्वोंका विचार करे। संसारके अनित्य स्वभावका एवं मुक्तिके नित्य स्वभावका चिन्तवन करे। इन उपायोंसे कामभाव, क्रोधभाव, मानभाव व मोहको उद्यम करके अच्छी तरह जीतना चाहिए। जो जीते वही वीर हैं।

तस्मिन्नुपशमे प्राप्ते युक्तं सद्वृत्तधारणं ।
तृष्णां सुदूरतस्त्यक्त्वा [1]विषान्नमिव भोजनं ॥११८॥

अन्वयार्थ–(तस्मिन् उपशमे प्राप्ते) कामभोगके शान्त हो जानेपर (सद्वृत्त-

पाठान्तर–१. विषाक्तमिव।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

धारणं युक्तं) सम्यक्चारित्रको धारण करना योग्य है तब (विषान्नम् भोजनं इव) विषसे मिले अन्नका भोजन जैसे छोड़ दिया जाता है वैसे (तृष्णां सुदूरतः त्यक्त्वा) तृष्णाको दूरसे ही छोड़े।

भावार्थ—जब तक कामसेवनकी इच्छा शांत न हो तब तक गृहस्थमें स्वस्त्रीसहित रहकर एकदेश ब्रह्मचर्य पालना चाहिए। जब कामकी इच्छा शान्त हो जावे तब ही साधुका चारित्र धारण करे। उस समय इन्द्रियोंके विषयोंकी चाहको उसी तरह ग्लानि-सहित त्याग दे जिस तरह विषसे मिश्रित भोजनको प्राणघातक समझकर त्याग दिया जाता है। ज्ञानी संतपुरुष विषसे भी अधिक भयंकर विषयोंकी तृष्णाको समझते हुए उसको भले प्रकार जीतते हैं। आत्मरसका वेदन ही तृष्णाके शमनका उपाय है।

कर्मणां शोधनं श्रेष्ठं ब्रह्मचर्यं सुरक्षितं ।
सारभूतं चरित्रस्य देवैरपि सुपूजितम् ॥११९॥

अन्वयार्थ—(कर्मणां शोधनम्) कर्मोंको क्षय करनेवाले (चरित्रस्यं सारभूतं) साधुके चरित्रका सार (देवैः अपि सुपूजितम्) तथा देवोंसे भी आदरणीय ऐसे (श्रेष्ठं ब्रह्मचर्यं) उत्तम ब्रह्मचर्यव्रतकी (सुरक्षितं) भले प्रकार रक्षा करनी योग्य है।

भावार्थ—ब्रह्मचर्यव्रत निश्चयसे ब्रह्मस्वरूप अपने आत्मामें चर्या करना है। अर्थात् निज आत्माका अनुभव है। इसीका निमित्त कारण कामभावको त्यागकर वीर्यकी बाहरी रक्षारूप ही ब्रह्मचर्य है। सब व्रतोंमें, सब तपोंमें सारभूत यह ब्रह्मचर्य है। उसीके कारण देवगण साधुओंके चरणोंको नमस्कार करते हैं। इसी ब्रह्मचर्यसे वीतरागताके प्रभावसे कर्मोंकी निर्जरा होती है, ऐसा जानकर बाहरी और भीतरी दोनों ही प्रकारके ब्रह्मचर्यको भले प्रकार पालना चाहिए।

स्त्रियोंका स्वरूप

या चैषा प्रमदा भाति लावण्यजलवाहिनी ।
सैषा वैतरणी घोरा दुःखोर्मिशतसंकुला ॥१२०॥*

---

* सिद्धांतसारादिसंग्रहके अनुसार श्लोक १२० के पश्चात् एक श्लोक इस प्रकार है :

दर्शने हरते चित्तं स्पर्शने हरते धनम् ।
संयोगे हरते प्राणं नारी प्रत्यक्षराक्षसी ॥१॥

स्त्री, दर्शन मात्रसे चित्तको हरती है, स्पर्शसे धनको हरती है और संयोगमें प्राणका हरण करती है, इस प्रकार नारी प्रत्यक्षरूपसे राक्षसी है। (यहाँ नारीके प्रति इस कथनसे उदासीनता एवं वैराग्यभावको पुष्ट करनेका ही प्रयोजन दर्शाया गया है)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्वयार्थ–(या च एषा) जो यह (प्रमदा) तरुणा स्त्री (लावण्य-जलवासिनी) अपनी सुन्दरतारूपी जलसे भरी हुई नदीके (भाति) समान प्रतीत होती है (सा एषा) यही वह स्त्री (दुःखोर्मिशतसंकुला) हजारों दुःखरूपी तरंगोंसे भरी हुई (घोरा) भयानक (वैतरणी) नरककी वैतरणी नदीके समान है।

भावार्थ–शरीरसे सुन्दर और अत्यन्त रूपवान स्त्रीको देखकर रागीका मन मोहित हो जाता है। आचार्य कहते हैं कि वह स्त्री नहीं है किंतु नरककी घोर भयंकर वैतरणी नदी है। यह उपमा पुरुषकी अपेक्षासे दी है, अपनी अपेक्षासे स्त्री व पुरुषका रूप अपने-अपने बाँधे हुए नामकर्मके उदयसे सुन्दर या असुन्दर होता है। मोही पुरुष जब सुन्दर स्त्रीमें मोहित हो जाता है तब जैसे वैतरणी नदीमें नहानेसे दाह मिटनेकी अपेक्षा अधिक बढ जाती है, वैसे स्त्रीके मोहमें फँसनेसे कामदाह बढ़ जाती है। जब वह स्त्रीसंभोग करता है तो अधिक कामदाहको बढ़ा लेता है। जितना-जितना वैतरणी नदी तुल्य स्त्री-सुखमें डूबा जाता है उतना-उतना कामदाह अधिक होता जाता है, और यह प्राणी इस स्त्रीके मोहके कारण मोक्षका मार्ग नहीं साध सकता है।

संसारस्य च बीजानि दुःखानां राशयः पराः ।
पापस्य च निधानानि निर्मिता केन योषिताः ।।१२१।।

अन्वयार्थ–(संसारस्य बीजानि) संसारको उत्पन्न करनेके लिए बीजके समान (च दुःखानां पराः राशयः) और दुःखोंसे भरी हुई गंभीर खानके समान (च पापस्य निधानानि) तथा पापरूपी मैलके निधान समान (योषिताः) इन स्त्रियोंको (केन निर्मिताः) किसने बनाया है ?

भावार्थ–यहाँ भी स्त्रियोंका स्वरूप मोही पुरुषकी अपेक्षासे बताया गया है। जो कोई स्त्रियोंके मोहमें फँस जाता है उसका संसार बढ़ता है। उसे मोक्षका बीज नहीं मिलता है। उसे इष्टवियोग और शारीरिक रोग, निर्बलता आदिके बहुत कष्ट सहने पड़ते हैं, तथा उसके रागी, मोही एवं कामी भावोंसे निरन्तर पापका बंध होता है। अतएव ज्ञानी जीवको स्त्रियोंसे मोह न करना योग्य है।

इयं सा मदनज्वाला वह्नेरिव समुद्भुता ।
[1]मनुष्यैर्यत्र हूयंते यौवनानि धनानि च ।।१२२।।

अन्वयार्थ–(इयं सा) जो यह (मदनज्वाला) कामका दाह है सो (वह्नेः इव)

पाठान्तर–१. नराणां यत्र।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अग्निके समान (समुद्भुता) बढ़ जाता है (यत्र) जिस कामकी आगमें (मनुष्यैः) मनुष्यके द्वारा (यौवनानि धनानि च) यौवन और धन (हूयंते) होम दिये जाते हैं।

भावार्थ–स्त्रियोंके मोहमें अन्धा हुआ प्राणी ऐसी कामकी अग्नि जला लेता है जिसकी पीड़ासे आकुलित होकर वह वेश्या और परस्त्रियोंमें आसक्त होकर अपने शरीरका यौवन नष्ट करके वृद्धके समान अत्यन्त निर्बल हो जाता है और धनका नाश करके निर्धन हो जाता है। कामी मानव अपना सर्वस्व खोकर दीनहीन जीवन बिताकर दुर्गतिमें चला जाता है।

नरकावर्त्तपातिन्यः स्वर्गमार्गदृढार्गलाः ।
अनर्थानां विधायिन्यो योषितः केन निर्मिताः ॥१२३॥

अन्वयार्थ–(नरकावर्त्तपातिन्य) जो नरकके गड्ढेमें गिरानेवाली (स्वर्गमार्ग-दृढार्गलाः) स्वर्गके मार्गमें चलनेके लिए रोकनेको मजबूत अर्गला या भींत हैं, ऐसी (अनर्थानां विधायिन्यः) अनेक आपत्तियोंको करानेवाली (योषितः) स्त्रियाँ (केन) किसके द्वारा (निर्मिताः) बनायी गई है ?

भावार्थ–पुरुषोंका स्त्रियोंके मोहमें पडनेसे क्या बिगड़ता है इसी अपेक्षासे यहाँ भी कथन है कि स्त्रियोंके मोहमें जो अन्ध होकर अन्याय करते हैं वे नरक चले जाते हैं। उनसे ऐसे शुभ काम नहीं बनते जिनसे पुण्यबंध कर स्वर्ग जा सकें। तथा अनेक शारीरिक मानसिक कष्ट इन स्त्रियोंके कारण भोगने पड़ते हैं। अतएव स्त्रियोंका मोह जीवनको नष्ट करनेवाला है।

कृमिजालशताकीर्णे दुर्गन्धमल पूरिते ।
त्वङ्मात्रसंवृते स्त्रीणां का काये रमणीयता ॥१२४॥

अन्वयार्थ–(कृमिजालशताकीर्णे) हजारों कीड़ोंके समूहसे भरी हुई (दुर्गन्ध-मलपूरिते) दुर्गन्ध और मलसे परिपूर्ण (त्वङ्मात्रसंवृते) मात्र चमडेसे ढ़की हुई (स्त्रीणां काये) स्त्रियोंके शरीरमें (का रमणीयता) क्या सुन्दरता है ?

भावार्थ–अज्ञानी प्राणी स्त्रियोंके रूपका मोही होकर बावला हो जाता है इस कारण आचार्य कहते हैं कि स्त्रियोंका शरीर ऊपर चमडीसे ढका हुआ सुन्दर लगता है, परंतु भीतरमें यह शरीर लाखों कीड़ोंसे तथा मलमूत्र पीव आदिसे भरा हुआ है, दुर्गन्धमय है जिसको देखनेमात्रसे घृणा हो जाती है। ऐसे शरीरमें न तो कोई सुंदरता है और न वह सेवने योग्य ही है, अतएव उसमें रागभाव नहीं करना चाहिए। स्त्रीका राग ही उभयलोकमें दुःखका कारण है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वैराग्य सुखका कारण है

अहो ते सुखितां प्राप्ता ये कामानलवर्जिताः ।
सद्वृत्तं विधिना पाल्यं यास्यन्ति पदमुत्तमम् ।।१२५।।

अन्वयार्थ–(अहो) अद्‌भुतता है कि (ये) जो (कामानलवर्जिता) कामरूपी आगसे नहीं जलते हैं (ते) वे (सुखितां प्राप्ताः) सुखकी दशाको पहुँच गये हैं, वे ही (विधिना) विधिपूर्वक (सद्वृत्तं) सम्यक्‌चारित्रका (पाल्यं) पालन करके (उत्तमं पदं) उत्तम मोक्षपदको (यास्यन्ति) प्राप्त कर लेते हैं।

भावार्थ–सुख शान्ति तब ही मिलती है जब संतोष हो व विषयोंकी इच्छा न हो। जिन्होंने कामकी दाह शमन कर दी है, ब्रह्मचर्य व्रतको भावसहित धारण किया है वे ही निराकुल होनेसे सुखी हैं तथा वे ही मुनिधर्मकी क्रियाओंको शास्त्रानुकूल विधिसे पालते हैं, उनके भीतर आत्मानुभवरूप निश्चय चारित्र बढ़ता जाता है। वे शीघ्र ही कर्मोंको क्षय करके मुक्त हो जाते हैं।

भोगार्थी य करोत्यज्ञो निदानं मोहसङ्गतः ।
चूर्णीकरोत्यसौ रत्नं [1]अनर्थसूत्रहेतुना ।।१२६।।

अन्वयार्थ–(यः भोगार्थी) जो भोगोंको चाहनेवाला (अज्ञः) अज्ञानी (मोह-सङ्गतः) मोहके संयोगसे मोही होकर धर्म पालते हुए भी (निदानं करोति) निदान–आगामी भोगोंकी वांछा–करता है (असौ) वह (अनर्थसूत्रहेतुना) निष्प्रयोजन सूतके लिए (रत्नं) रत्नको (चूर्णीकरोति) चूर्ण कर ड़ालता है।

भावार्थ–वह मानव मूर्ख है जो सूतके लिए रत्नकी मालाके रत्नोंको चूरा करके फेंक दे और अकेले सूतको ले ले। इसी प्रकार वैसे मानव भी मूर्ख हैं जो जिनेन्द्र-कथित धर्मको पालते हुए आगामी भोगोंकी अभिलाषा करके निदानभावसे अपने रत्नत्रय-धर्मको नाश कर दें। ये भोग रोगके समान त्यागने योग्य हैं। आत्मानंदका भोग ही ग्रहण करने योग्य है। इसीके लिए जिनधर्मका सेवन किया जाता है। ज्ञानी मानव नाशवंत संसारवर्द्धक भोगोंकी कभी इच्छा नहीं करता है, किन्तु मुक्तिके अनुपम निराकुल सुखकी भावना करते हुए ही जिनधर्मको पालता है, निदान कभी नहीं करता है।

भव-भोग-शरीरेषु भावनीयः सदा बुधैः ।
निर्वेदः परया बुद्ध्या कर्मारातिजिघृक्षुभिः ।।१२७।।

पाठान्तर–१. अनर्घ्यं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्वयार्थ–(कर्माराति जिघृक्षुभिः) कर्मरूपी शत्रुओंको पकड़नेकी इच्छा करनेवाले (बुधैः) बुद्धिमानको (भव-भोग-शरीरेषु) संसार, भोग और शरीरमें (निर्वेदः) वैराग्य (परया बुद्ध्या) बड़ी बुद्धिमानीके साथ (सदा भावनीयः) सदा मनन करना चाहिए।

भावार्थ–कर्मोंको जीतनेका उपाय वैराग्यभाव है, क्योंकि रागभाव ही कर्मोंके बंधका मूल कारण है। इसलिए वीर संतोंको कर्मोंपर विजय पानेके लिए बड़ी बुद्धिमानीके साथ बारबार यह मनन करना चाहिए। संसार असार है। चारों ही गतियोंमें जीवोंको दुःख है। अज्ञानीको कहीं भी सुख-शान्ति नहीं मिल सकती है। यह शरीर क्षणभंगुर है, अत्यन्त अपवित्र है। इससे छूटना ही हितकर है। इन्द्रियके भोग अतृप्तिकारी हैं, तृष्णाके बढ़ानेवाले हैं और विष-समान आत्मघातक हैं। जब शरीर-भोगोंसे वैराग्य भाव होगा तब ही मोक्षमार्गमें प्रेमभाव होगा।

यावन्न मृत्युवज्रेण देहशैलो निपात्यते ।
नियुज्यतां मनस्तावत् कर्मारातिपरिक्षये ॥१२८॥

अन्वयार्थ–(यावत्) जब तक (देहशैलः) यह शरीररूपी पर्वत (मृत्युवज्रेण) मरणरूपी वज्रसे (न निपात्यते) नहीं गिराया जावे (तावत्) तब तक (कर्माराति-परिक्षये) कर्मरूपी शत्रुओंके नाश करनेमें (मनः नियुज्यतां) मनको लगाना चाहिए।

भावार्थ–वीर योद्धा उस समय तक बराबर प्रयत्नशील रहता है जब तक कि अपने शत्रुका जडमूलसे नाश नहीं कर ड़ालता। इसी न्यायसे कर्मरूपी शत्रुके क्षयके लिए ज्ञानीको निरंतर अपना मन लगाना चाहिए, तथा ऐसा आत्मध्यानका अभ्यास करना चाहिए जिससे वीतरागता प्रकट होवे, क्योंकि वीतरागभाव ही कर्मोंके विनष्ट करनेमें कारण हैं। वह काम जितना शीघ्र हो, कर लेना चाहिए। मानव देहमें ही कर्मोंका क्षय हो सकता है। मरणके आनेका निश्चय नहीं है अतएव मरण आनेके पहले ही शीघ्रसे शीघ्र जो कुछ अपना आत्महित बन सके, कर लेना चाहिए।

त्यज कामार्थयोः सङ्गं धर्मध्यानं सदा भज ।
छिंद्धि स्नेहमयान् पाशान् मानुष्यं प्राप्य दुर्लभम् ॥१२९॥

अन्वयार्थ–(दुर्लभम् मानुष्यं प्राप्य) इस दुर्लभ मानव-जन्मको पाकर (कामार्थयोः सङ्गं त्यज) तू कामभोग और द्रव्य विभूति अथवा परिग्रहका ममत्व छोड (स्नेहमयान् पाशान् छिंद्धि) स्नेहमयी जालोंको छेद (धर्मध्यानं सदा भज) और धर्मध्यानका सदा सेवन कर।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थ–मानव-जन्मका मिलना बड़ा ही कठिन है। ऐसे नरजन्मको पाकर वह उपाय अवश्य करना योग्य है जिससे धर्मध्यान हो सके, आत्मानन्द मिल सके और भावी जीवनमें उत्तम पद प्राप्त हो। इसलिए द्रव्योपार्जन करने और भोग भोगनेका साधन जो गृहस्थ जीवन है उसका त्याग किया जावे, कुटुम्ब परिवार तथा मित्रादिसे स्नेह तोड़ दिया जाये, पूर्ण वैराग्यवान होकर निश्चिन्तताके साथ निज आत्माका ध्यान किया जावे। धर्मध्यान सातवें गुणस्थान तक हो सकता है सो आजकल संभव है। इसलिए त्याग-भाव धारणकर आत्मध्यानका अभ्यास करना योग्य है।

कथं ते भ्रष्टसद्वृत्ता [1]विषयानुपसेवते ।
पञ्चधाऽन्तरिता तेषां नरके तीव्रवेदना ॥१३०॥

अन्वयार्थ–(ते भ्रष्टसद्वृत्ता कथं पञ्चधा विषयान् उपसेवते) वे सच्चारित्रसे भ्रष्ट होकर क्यों पाँच प्रकारके विषयोंका बारबार सेवन करते हैं? क्योंकि (अन्तरिता) पश्चात्–विषयोंके सेवनके बाद (तेषां नरके तीव्रवेदना) उन्हें नरकमें तीव्र वेदना भोगनी पडेगी।

भावार्थ–इन्द्रियभोगोंकी लोलुपता कृष्ण-नील-कापोत लेश्या सम्बन्धी परिणामोंकी उत्पत्तिका बीज है। जिन भावोंसे जीवोंको नरकायुका बंध हो जाता है, नरकमें जाकर तीव्र वेदना सहनी पडती है, उनको समझकर भी जीव इन्द्रियोंके विषयोंके भीतर बारबार अनुरक्त होकर अपनी आत्माका शोधन नहीं करते और परम पवित्र जैनधर्मका भी साधन नहीं करते यह बड़े आश्चर्यकी बात है!

सद्वृत्तभ्रष्टचित्तानां विषयासङ्गसङ्गिनाम् ।
तेषामिहैव दुःखानि भवन्ति नरकेषु च ॥१३१॥

अन्वयार्थ–(सद्वृत्तभ्रष्टचित्तानां) जिनका मन सम्यक्चारित्रसे भ्रष्ट हो गया है (विषयासंगसंगिनाम्) तथा जो इन्द्रियोंके विषयोंमें मगन हैं (तेषां इहैव दुःखानि) उनको यहाँ भी दुःख होते हैं (नरकेषु च) तथा मरनेके पीछे नरकोंमें जाकर घोर वेदना सहनी पडती हैं।

भावार्थ–जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रके मार्गसे विमुख होकर मिथ्यात्वकी कीचमें पडकर रातदिन इन्द्रियोंके विषयमें तल्लीन रहते हैं वे यहाँ भी इष्टवियोग, अनिष्टसंयोग, पीडा-चिंतवन और निदान बंध, ये चार आर्तध्यानसे दुःखित रहते हैं, तृष्णाकी दाहसे जलते रहते हैं तथा पीछे

पाठान्तर–१. विषयानुपभुञ्जते।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मरकर नरकमें घोर दुःख पाते हैं। इसलिए ज्ञानी जीवोंको भले प्रकार इन भोगोंका विपरीत स्वभाव विचार कर इनसे विरक्त होना चाहिए और यदि शक्य हो तो उनका सर्वथा त्याग कर धर्ममय जीवन बिताना योग्य है। घरमें रहकर इच्छाशक्तिको कम करनेसे आत्मानंद मिल सकता है। अन्यथा गृहस्थमें संतोषपूर्वक रहकर न्यायोपार्जित भोग भोगते हुए मुनिधर्मकी भावना भाते हुए गृहीके अहिंसादि बारह व्रत पालने चाहिए। क्योंकि ज्ञान और ध्यान ही कर्मनिर्जराके कारण हैं।

विषयास्वादलुब्धेन रागद्वेषवशात्मना ।
आत्मा च वंचितस्तेन यः शमं नापि सेवते ॥१३२॥

अन्वयार्थ–(**यः**) जो कोई (**विषयास्वादलुब्धेन**) पंचेन्द्रियोंके विषयोंके स्वादकी लुब्धतासे (**रागद्वेषवशात्मना**) रागद्वेषके आधीन होता हुआ (**शमं नापि सेवते**) शांतभावका सेवन नहीं करता है (**तेन**) उसने (**आत्मा वंचितः**) अपने आपको ठगा है।

भावार्थ–इस मानवजन्मको पाकर सुखशांतिका लाभ करना चाहिए। जो इस प्रवृत्तिसे विमुख होकर इन्द्रियसुखोंके स्वादमें लुब्ध हो जाता है वह इष्ट पदार्थोंसे राग और अनिष्ट पदार्थोंसे द्वेष करता हुआ कर्मोंको बाँधकर इस संसारमें दीर्घकाल भ्रमण करके बहुत कष्ट उठाता है। उसने अपने कल्याणके अवसरको खोकर अपने आपको धोखा दिया है और अपना बुरा किया है। इसलिए बुद्धिमान मानवको कोड़ीके पीछे रतन नहीं गँवाना चाहिए। विषयस्वादके पीछे आत्मानन्दके अपूर्व लाभको नहीं खोना चाहिए।

आत्मना यत्कृतं कर्म भोक्तव्यं तदनेकधा ।
तस्मात् कर्मास्त्रवं रुद्ध्वा स्वेन्द्रियाणि वशं नयेत् ॥१३३॥

अन्वयार्थ–(**यत्**) जो (**कर्म**) कर्मबंध (**आत्मना कृतं**) आत्माने किया है (**तत् अनेकधा भोक्तव्यं**) उसीका फल अनेक प्रकारसे भोगना पडता है (**तस्मात्**) इसलिए (**कर्मास्त्रवं**) कर्मोंके आस्त्रवको (**रुद्ध्वा**) रोककर (**स्वेन्द्रियाणि वशं नयेत्**) अपनी इन्द्रियोंको वशमें करे।

भावार्थ–कर्मबंधसे ही जीवको अनेक कष्ट भोगने पडते हैं। इसलिए कर्मोंके आस्त्रव और बंधको रोकना उचित हैं। इसी कारणसे उन इन्द्रियोंको अपने वशमें रखना चाहिए जिनके आधीन होकर यह जीव रागद्वेषमें फँसकर अकर्तव्यको कर्तव्य समझने लगता है, अभक्ष्यको खाने लगता है, अन्यायमें प्रवृत्ति करने लगता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इन्द्रियप्रसरं रुद्ध्वा स्वात्मानं वशमानयेत् ।
येन निर्वाणसौख्यस्य भाजनं त्वं प्रपत्स्यसे ।।१३४।।

अन्वयार्थ–(इंद्रियप्रसरं रुद्ध्वा) इन्द्रियोंकी इच्छाओंके विस्तारको रोक करके (स्वात्मानं वशं आनयेत्) अपने आत्माको अपने आधीन रक्खे (येन) जिससे (त्वं) तू (निर्वाणसौख्यस्य भाजनं प्रपत्स्यसे) निर्वाण सुखका पात्र हो जायेगा।

भावार्थ–इन्द्रियोंको और मनको वशमें करनेसे ही उपयोग अपने ही घरमें अपने आत्माके स्वभावमें क्रीडा करने लगता है तब सहज ही में आत्मसुखका स्वाद आने लगता है। इसी आत्मस्थवृत्तिका अभ्यास जितना-जितना बढता जाता है उतना-उतना ही निर्वाणसुख निकट आता जाता है। पूर्ण वीतरागी होना ही निर्वाणका आधिपतित्व है।

सम्पन्नेष्वपि भोगेषु महतां नास्ति गृद्धता ।
अन्येषां गृद्धिरेवास्ति शमस्तु न कदाचन ।।१३५।।

अन्वयार्थ–(भोगेषु सम्पन्नेषु अपि) विषयभोगोंकी पूर्णता होनेपर भी (महतां) महान पुरुषोंकी (गृद्धता) लोलुपता (नास्ति) उनमें नहीं होती है (अन्येषां) अन्य मिथ्यादृष्टि जीवोंकी (गृद्धिः एव अस्ति) उनमें लोलुपता होती ही है (तु कदाचन शमः नास्ति) उससे उन्हें किंचित् भी शांति नहीं मिलती है।

भावार्थ–गृहस्थ अवस्थामें रहनेवाले धर्मात्मा जीवोंको चक्रवर्ती, बलदेव, तीर्थंकर आदि पद प्राप्त होते हैं। उनके इच्छित भोगोंकी सर्व सामग्री भी अनायास मिलती हैं। वे उनमें न तो लोलुप होते हैं, न तृष्णाकी दाह उत्पन्न करते हैं। वे आत्मानन्दमें ही रुचि रखते हैं। चारित्रमोहनीयके उदयवश यद्यपि उन्हें इन्द्रियभोगोंमें प्रवृत्ति करनी पड़ती है किन्तु उनकी उसमें मूर्छा नहीं होती, वे उसे त्यागने योग्य ही समझते हैं। ऐसी दशामें उनके आत्महितका विनाश नहीं होता; परन्तु मिथ्या-दृष्टिको आत्मसुखका विश्वास नहीं है, वह इंद्रियसुखको ही सुख समझता है। इसलिए भोग-सामग्री अल्प होनेपर भी वह बड़ा लोलुप होता है। विषय-चाहकी दाहमें वह सदा जलता हुआ कभी भी शांति नहीं पाता है।

षट्खण्डाधिपतिश्चक्री परित्यज्य वसुन्धराम् ।
तृणवत् सर्वभोगांश्च दीक्षां दैगम्बरी स्थिता ।।१३६।।

अन्वयार्थ– (षट्खण्डाधिपतिः चक्री) छः खंडका स्वामी चक्रवर्ती सम्राट भी (वसुंधरां) इस पृथ्वीको (च सर्वभोगान्) और सर्व भोग्य पदार्थोंको (तृणवत्) तृणके समान (परित्यज्य) छोड़कर (दैगम्बरी दीक्षां स्थिता) निर्ग्रंथ दिगम्बर मुनिकी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दीक्षाको अङ्गीकार करता है।

भावार्थ–ज्ञानी सम्यक्दृष्टि चक्रवर्ती पुण्यके उदयसे प्राप्त भोग्य पदार्थोंको और छः खण्ड पृथ्वीको भोगते हुए भी उदास रहते हैं। वे आत्मानन्द और आत्मशांतिके ही रोचक होते हैं। जब तक कषायका उदय मन्द नहीं होता है तब तक ही वे गृहस्थ-दशामें रहते हैं। जब स्वात्मानुभवका अभ्यास करते हुए उनकी प्रत्याख्यानावरण कषाय उपशम हो जाती है तब वे शीघ्र ही सर्व परिग्रह त्यागकर मुनिदीक्षा धारण कर लेते हैं, जो साक्षात् मोक्षका उपाय है।

कृमितुल्यैः किमस्माभिः भोक्तव्यं वस्तुसुन्दरं ।
तेनात्र गृहपङ्केषु सीदामः किमनर्थकम् ॥१३७॥

अन्वयार्थ–(कृमितुल्यैः) कीडोंके समान (अस्माभिः) हम लोगोंको (किं सुंदरं वस्तु भोक्तव्यं) क्यों सुन्दर पदार्थोंका भोग करना चाहिए? (किं तेन) क्योंकि उससे तो (अत्र) इस लोकमें (गृहपंकेषु) घरकी कीचडमें फँसकर (अनर्थकम्) वृथा (सीदामः) कष्ट उठाने पड़ेंगे ?

भावार्थ–वर्तमान इस दुःषमा पंचमकालमें चौथे कालकी अपेक्षा मानवोंकी अवस्था कीड़ोंके बराबर है। भोग-सामग्री भी बहुत अल्प हैं। बुद्धिमानोंको उचित है कि इन अतृप्तिकारी भोगोंमें लिप्त न होकर ऐसा उपाय करें जिससे इस आत्माको इस जन्ममें भी सुख हो और परलोकमें भी सुख मिले। यदि ऐसा न करके तुच्छ भोगोंमें तन्मय हुआ रहेगा तो गृहस्थीकी कीचड़में यहाँ भी कष्ट होगा और पाप बाँधकर आगे भी दुःख होगा, कभी शांति नहीं मिल सकती है, मानव-जन्म वृथा ही चला जायेगा।

येन ते जनितं दुःखं भवाम्भोधौ सुदुस्तरम् ।
[1]कर्मारातिमतीवोग्रं विजेतुं किं न वाञ्छसि ॥१३८॥

अन्वयार्थ–(येन) जिसके द्वारा (ते) तुझे (भवाम्भोधौ) इस संसाररूपी समुद्रमें (सुदुस्तरं दुःखं जनितं) अतीव कठिन दुःख प्राप्त हुए हैं (अतीव उग्रं) ऐसे दुःखद समयमें आत्माके शत्रु इन अत्यंत भयानक (कर्मारातिम्) कर्मरूपी शत्रुओंको (विजेतुं) जीतनेकी (किं न वाञ्छसि) इच्छा क्यों नहीं करते हो ?

भावार्थ–आचार्य कहते हैं कि हे भव्य जीव ! कर्मोंके संयोगसे तूने इस संसार समुद्रमें गोते खाते हुए बहुत ही भयानक असह्य दुःख उठाए हैं, तेरा शुद्ध स्वरूप इन कर्मोंने छिपा दिया है। तुझे अविद्या तथा तृष्णाका दास

पाठान्तर–१. तं कर्मारातिमत्युग्रं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बना दिया है। उन कर्मोंके जीतनेका यह अवसर है। यदि तू चाहता है कि कर्मोंसे सताया न जाऊँ तो पुरुषार्थ करके ऐसा संयम व तपका साधन कर जिससे कर्म निर्बल होकर क्षीण हो जावें और तू मुक्त हो जावे। ऐसा अवसर बार-बार मिलना कठिन है। यदि जीव जैनधर्मकी शरण ग्रहण करेगा और उसकी आज्ञामें चलेगा तो अवश्य ही जिनेन्द्रके समान हो जायेगा। वही सच्चा जैनीपना है, जो कर्मोंको जीतनेका साहस करके पुरुषार्थ करें।

अब्रह्मचारिणो नित्यं मांसभक्षणतत्पराः ।
शुचित्वं तेऽपि मन्यन्ते किन्नु चित्रमतः परम् ॥१३९॥

अन्वयार्थ–(अब्रह्मचारिणः) कोई कोई ब्रह्मचर्यको न पालते हुए (नित्यं) सदा ही (मांसभक्षणतत्पराः) मांसभक्षणमें लगे रहते हैं (ते अपि शुचित्वं मन्यन्ते) तो भी वे अपनेको पवित्र मानते हैं (किन्नु अतः परं चित्रं) इससे अधिक आश्चर्य और क्या हो सकता है ?

भावार्थ–जगतके मोहमें फँसे हुए, मांसाहार करते हुए, कुशीलका सेवन करते हुए, कोई कोई अपनेको धर्मात्मा व पवित्र मानते हैं यह बात आश्चर्यकारी इसलिये है कि जब मांसाहारी और कुशीलसेवी मानव भी अपनेको पवित्र मानेगा तो फिर अपवित्र किसको कहा जायेगा ? अर्थात् यह उनका भ्रम है। इससे मानव-जीवन पवित्र नहीं हो सकता।

येन संक्षीयते कर्म संचयश्च न जायते ।
तदेवात्मविदा कार्यं मोक्षसौख्याभिलाषिणा ॥१४०॥

अन्वयार्थ–(येन कर्म संक्षीयते) जिस कारणसे पूर्व संचित कर्मोंका क्षय हो जावे (च संचयः न जायते) व नवीन कर्मोंका संचय न हो (तत् एव) वह ही काम (मोक्षसौख्याभिलाषिणा) मोक्ष-सुखके अभिलाषी (आत्मविदा) आत्मज्ञानीको (कार्यं) करना योग्य है।

भावार्थ–आत्माके महान शत्रु कर्म हैं। जब तक कर्मोंका संयोग जीवके साथ रहता है तब तक जीव स्वतंत्र नहीं होता, वह पराधीन हुआ आकुलताको सहता है व अपने स्वाभाविक आनन्दका लाभ नहीं कर सकता है, तथा जन्ममरणादि दुःखोंको भवभवमें उठाता है। इसलिए कर्मोंका नाश अवश्य कर्तव्य है। नवीन कर्मोंके रोकनेका और पुरातन कर्मोंकी निर्जराका उपाय वास्तवमें सम्यग्दर्शन है तथा सम्यग्दर्शनसहित चारित्र तथा आत्मानुभव है अतएव ज्ञानीको उद्यम करके आत्मध्यानका अभ्यास करना योग्य है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चार गतिके दुःख-सुख

अनेकशस्त्वया प्राप्ता विविधा भोगसम्पदः ।
अप्सरागणसंकीर्णे दिवि देवविराजिते ॥१४१॥

अन्वयार्थ–(अप्सरागणसंकीर्णे) देवियोंसे भरे हुए और (देव-विराजिते) देवोंसे शोभायमान (दिवि) स्वर्गमें (त्वया) तूने (अनेकशः) अनेक बार (विविधा) नाना प्रकारकी (भोगसम्पदः) भोग सम्पदाएँ (प्राप्ताः) पाईं हैं।

भावार्थ–इस संसारमें भ्रमण करते हुए हे आत्मन्! तूने पुण्यके उदयसे जब देवगति पाई और स्वर्गमें पैदा हुआ तब तेरी सेवा अनेक देवियोंने की और अनेक देव हाजरीमें खड़े रहे। तूने स्वर्ग सरीखे मनोज्ञ भोगोंको बारबार भोगा है परन्तु तेरी तृप्ति नहीं हुई। तू अब तक तृष्णातुर ही बना रहा। स्वर्गमें इन्द्रियोंके अपार सुख हैं उनको भी इस जीवने भोगा है परन्तु शान्ति नहीं मिली, प्रत्युत तृष्णामें ही वृद्धि हुई है।

पुनश्च नरके रौद्रे रौरवेऽत्यन्तभीतिदे ।
नानाप्रकारदुःखोघैः संस्थितोऽसि विधेर्वशात् ॥१४२॥

अन्वयार्थ–(पुनः च) तथा ऐसे ही (अत्यन्त भीतिदे) अतिशय भयानक (रौरवे रौद्रे नरके) रौरव नामके कष्टप्रद नरकमें (विधेः वशात्) तू कर्मोंके वश (नानाप्रकारदुःखोघैः) नाना प्रकारके दुःखसमूहोंसे घिरा हुआ (संस्थितः असि) रह रहा है।

भावार्थ–जब तूने अधिक पाप बाँधे तब तू नरकमें दीर्घकाल तक रहकर नाना प्रकारके भयानक दुःखोंके बीचमें पडा रहा। वहाँ परस्पर नारकी एक दूसरेको कष्ट देते हैं। तीसरे नरक तक असुरकुमार जातिके देव जाकर नारकियोंको लड़ाते हैं। वहाँ भूमि बड़ी दुर्गंधमय है, पवन कठोर है, पानी खारा है, वृक्ष काँटेदार पत्रोंको रखते हैं। नरकमें कोई सामान सुखप्रद नहीं हैं। नरकोंके जो दुःख शास्त्रमें कहे हैं उनको सुननेसे ही मन काँप जाता है। जिसको भोगना पडता है उसको वही जानता है या केवली भगवान जानते हैं। हिंसानन्दी, मृषानन्दी, चौर्यानन्दी, परिग्रहानन्दी जीव प्रायः नरकमें जाते हैं। इसलिए रौद्रध्यानसे बचना चाहिए। यह नरकगतिका कारण है।

तप्ततैलिकभल्लीषु पच्यमानेन यत्त्वया ।
संप्राप्तं परमं दुःखं तद्वक्तुं नैव पार्यते ॥१४३॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्वयार्थ—(तप्ततैलिकभल्लीषु) गरम गरम तेलके कढाहोंमें (पच्यमानेन) पकाये जानेसे (यत् परमं दुःखं) जो महान दुःख (त्वया संप्राप्तं) तूने प्राप्त किया है (तत् वक्तुं नैव पार्यते) उन दुःखोंको कहा नहीं जा सकता है।

भावार्थ—नरकोंके दुःख बड़े भयंकर हैं। गर्म गर्म तेलके कढाहोंमें नारकीको पटक देते हैं। उनमें पचते हुए नारकीको भयानक कष्ट भोगने पडते हैं। उन दुःखोंका हमारे जैसे मानव कैसे वर्णन कर सकते हैं? उनका स्मरण इस जीवको नहीं हैं। यदि वहाँके दुःखोंका स्मरण हो जावे तो प्राणीको असहनीय दुःख होता है।

नानायंत्रेषु रौद्रेषु पीड्यमानेन वह्निना।
दुःसहा वेदना प्राप्ता पूर्वकर्मनियोगतः ॥१४४॥

अन्वयार्थ—(पूर्वकर्मनियोगतः) पूर्वमें बाँधे हुए कर्मोंके उदयसे (रौद्रेषु नानायंत्रेषु) भयानक नाना प्रकारके यंत्रोंमें (वह्निना पीड्यमानेन) अग्निके भयानक आतापसे कष्ट पाकर (दुःसहा वेदना प्राप्ता) दुःसह वेदना तुझे प्राप्त हुई है।

भावार्थ—तीव्र पापकर्मके उदयसे नरकमें नारकीको बड़े-बड़े गर्म यंत्रोंमें पेलते हैं तब आगकी गर्मीसे उसको महान घोर कष्ट होता है जिसको कोई संसारी कह नहीं सकता।

विण्मूत्रपूरिते भीमे पूतिश्लेष्मवसाकुले।
भूयो गर्भगृहे मातुर्दैवाद्यातोऽसि संस्थितिम् ॥१४५॥

अन्वयार्थ—(दैवात्) कर्मोंके उदयसे (भूयः) फिर इस जीवको (विण्मूत्रपूरिते) विष्टा और मूत्रसे भरे हुए (भीमे) भयानक (पूतिश्लेष्मवसाकुले) पीव कफ चरबीसे पूर्ण (मातुः) माताके (गर्भगृहे) गर्भमें (संस्थितिम् यातः असि) ठहरकर समय बिताना पडता है।

भावार्थ—इस भयानक संसारमें भ्रमण करते हुए कभी यदि इस जीवने मंद कषायसे मानव-आयु बाँध ली तो यह मनुष्य-गतिमें आकर माताके गर्भगृहमें नौ मासतक उल्टा रहता है। वह गर्भगृह नरकके समान है, मल-मूत्रसे भरा हुआ है, पीव, कफ, चरबीसे पूर्ण है, कृमियोंसे भी भरा है। ऐसे स्थानमें इस जीवको उल्टा टँगना पडता है। माताके आहारसे इसका पालन हो जाता है। मानवगतिमें गर्भमें नौ मास रहनेका बड़ा भारी कष्ट होता है। फिर जन्मते हुए घोर कष्ट होता है। मानवगतिके भी दुःख भयानक हैं। इष्टवियोग, अनिष्टसंयोग तथा तृष्णाके दुःख अधिकांश जीवोंको होते हैं। इसके सिवाय रोगादिके, दरिद्रताके और इच्छित वस्तुको

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

न पाने आदिके बड़े-बड़े कष्ट होते हैं, जिनका कहना भी शक्य नहीं हैं।

तिर्यग्गतौ च यदु दुःखं प्राप्तं छेदनभेदनैः ।
न शक्तस्तत् पुमान् वक्तुं जिह्वाकोटिशतैरपि ।।१४६।।

अन्वयार्थ–(च तिर्यग्गतौ) और तिर्यंचगतिमें (छेदनभेदनैः) छेदन भेदनके द्वारा (यत् दुखं प्राप्तं) जो दुःख उठाये हैं (तत्) उनको (पुमान्) कोई मनुष्य (जिह्वाकोटिशतैः अपि) करोडों जिह्वाओंके द्वारा भी (वक्तुं न शक्तः) कहनेको समर्थ नहीं है।

भावार्थ–पशुगतिमें एकेन्द्रिय स्थावरोंके छेदनभेदनके दुःख विचारमें भी नहीं आ सकते, पराधीनपनेसे उनको सहने पडते हैं। विकलत्रय जीव भी गर्मी, सर्दी, भूख, प्यासके अनेक कष्ट सहते हैं, मानवोंके कार्य और अनेक आरम्भसे बड़े कष्टसे प्राण देते हैं। पञ्चेन्द्रिय सैनी पशु मारण-ताडन, अधिक भार लादना, कठोर वचन-प्रहारके और सबलों द्वारा सताये जानेके आदि महान दुःख पाते हैं।

संसृतौ नास्ति तत्सौख्यं यन्न प्राप्तमनेकधा ।
देवमानवतिर्यक्षु भ्रमता जन्तुनाऽनिशं ।।१४७।।

अन्वयार्थ–(तत् सौख्यं) ऐसा कोई सुख (संसृतौ) इस संसारमें (नास्ति) नहीं है (यत् अनेकधा) जो अनेक तरहसे (जन्तुना) इस जीवने (अनिशं) रातदिन (देवमानवतिर्यक्षु भ्रमता) देव, मनुष्य और तिर्यंच गतियोंमें भ्रमते हुए (न प्राप्तं) न पाया हो।

भावार्थ–नरकगतिमें तो दुःख ही दुःख हैं। पशु, मनुष्य व देवगतिमें कुछ सांसारिक सुख है, उस सुखको इस जीवने बारबार इन गतियोंमें जन्म ले ले कर पाया है तो भी उस सुखसे इसकी तृप्ति नहीं हुई।

चतुर्गतिनिबन्धेऽस्मिन् संसारेऽत्यन्तभीतिदे ।
सुखदुःखान्यवाप्तानि भ्रमता विधियोगतः ।।१४८।।

अन्वयार्थ–(अस्मिन्) इस (अत्यन्तभीतिदे) महान भयदायी (चतुर्गतिनिबन्धे संसारे) चारगतिमयी संसारमें (विधियोगतः) कर्मोंके उदयसे (भ्रमता) भ्रमण करते हुए (सुखदुःखानि) इस जीवने अनेक सुख व दुःख (अवाप्तानि) पाये हैं।

भावार्थ–यह संसार भ्रमणमय है। कर्मोंके उदयसे यह जीव बारबार नरक, पशु, मानव, देव इन चार गतियोंमें जाकर अच्छी या बुरी अनेक पर्यायोंको धारण कर चुका है। निगोदसे लेकर नवग्रैवेयक तकके शरीर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बारबार धारण किये और छोडे हैं। कभी कहीं दुख, कभी कहीं सुख पाया है। दुःख भी कोई बचा नहीं जो न पाया हो, सुख भी कोई बचा नहीं जो न पाया हो। दुःखोंसे आकुलित रहा। सुखमें उन्मत्त हुआ परन्तु तृप्ति रंचमात्र भी प्राप्त नहीं हुई। तृष्णारूपी रोग बढता ही गया।

वैराग्यकी आवश्यकता

एवं विधमिदं कष्टं ज्ञात्वात्यन्तविनश्वरम् ।
कथं न यासि वैराग्यं धिगस्तु तव जीवितम् ॥१४९॥

अन्वयार्थ–(एवं विधं) इस तरह चारों गतियोंमें **(इदं कष्टं)** इस भ्रमणके कष्टको **(अत्यन्तविनश्वरम्)** अत्यन्त विनाशीक **(ज्ञात्वा)** जानकर **(कथं वैराग्यं न यासि)** क्यों वैराग्यको नहीं प्राप्त होते हो ? **(तव जीवितम् धिक् अस्तु)** तेरे इस जीवनको धिक्कार हो !

भावार्थ–वह जीवन धिक्कारने योग्य है, जो कष्ट ही कष्टमें बीते। मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान व मिथ्याचारित्रके वशीभूत होकर इस जीवने जन्म-मरणके घोर कष्ट पाये। सर्व प्रकारके दुःख-सुख भोगे, परन्तु कभी भी संतोष और सुख-शांतिका लाभ नहीं किया। जीवन असार ही बना रहा। वृथा ही जीवनकी यात्राएँ बीतीं। अपने ही भीतर जो सच्ची सुख-शांति भरी है, उसको प्राप्त नहीं किया। कर्मोंकी पराधीनतामें दुःख ही दुःख भोगे। जिन असार सुखोंको बारबार परीक्षा करके देख लिया गया कि यह उपाय इच्छाओंके रोगोंके शमनका नहीं है, फिर भी यह मूर्ख इन निरर्थक उपायोंसे वैराग्यभाव नहीं रखता और सच्चे सुखका उपाय नहीं करता है, जो अपने ही पास है।

जीवितं विद्युता तुल्यं संयोगाः स्वप्नसन्निभाः ।
सन्ध्यारागसमः स्नेहः शरीरं तृणबिन्दुवत् ॥१५०॥

अन्वयार्थ–(जीवितं विद्युता तुल्यं) यह जीवन तो बिजलीके चमकारके समान क्षणभंगुर है, **(संयोगाः)** और स्त्री, पुत्र, कुटुम्बादिका संयोग **(स्वप्नसन्निभाः)** स्वप्नके समान है, **(संध्यारागसमः स्नेहः)** जगतके प्राणियोंके साथ स्नेह संध्याकी लालीके समान है, **(तृणबिन्दुवत् शरीरं)** और तिनके पर पडी हुई ओसकी बिन्दुके समान शरीर पतनशील है।

भावार्थ–यह मूढ प्राणी जिन-जिन पदार्थोंमें मोह करता है वे सब पदार्थ नाशवंत हैं। जीवन मृत्युके मुखमें हैं, यह नहीं मालूम कि मृत्यु इस

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शरीरको कब निगल ड़ालेगी। जिन-जिन स्त्री, पुत्र, मित्रादिके संयोगसे हम बड़े राजी होते हैं और अपनेको बहु कुटुम्बी समझते हैं, वे देखते-देखते ही नष्ट हो जाते हैं तब ही ऐसा भान होता है कि मानों स्वप्नमें ही स्त्री-पुत्रादिको देखा हो। किसीसे स्नेह हो वह जरासी देरमें नष्ट हो जाता है। उसकी इच्छानुसार कार्य न करनेसे ही वह वैरी हो जाता है। जैसे–संध्यासमयकी लाली अवश्य विनष्ट हो जाती है। तिनकेके ऊपर रखी हुई बिंदुके गिर जानेका सदा ही खटका बना रहता है वैसे ही इस शरीरके गिर पडनेका या रोगी हो जानेका सदा ही डर लगा रहता है।

शक्रचापसमा भोगाः सम्पदो जलदोपमाः ।
यौवनं जलरेखेव सर्वमेतदशाश्वतम् ॥१५१॥

अन्वयार्थ–(भोगाः शक्रचापसमाः) इन्द्रियोंके भोगने योग्य पदार्थ इन्द्र-धनुषके समान देखते-देखते नष्ट हो जाते हैं। (जलदोपमाः सम्पदः) सम्पत्तियाँ मेघोंके विघटनके समान नष्ट हो जाती हैं। (जलरेखा इव यौवनं) पानीमें खींची हुई रेखा जैसे तुरन्त मिट जाती है वैसे ही यौवन शीघ्र मिट जाता है। (एतत् सर्वे अशाश्वतम्) यह सब सदा रहनेवाला नहीं है, संसारकी माया नाशवन्त है।

भावार्थ–अज्ञानी प्राणी जिन-जिन पदार्थोंको स्थिर मानकर निश्चिन्त होकर धर्मसाधनसे विमुख रहता है वे सब पदार्थ बिलकुल नाशवंत हैं। भोग इन्द्रधनुषके समान हैं, सम्पत्तियाँ मेघके समान हैं, यौवन जलकी रेखावत् क्षणिक है, ऐसा जानकर बुद्धिमान प्राणीको उचित है कि वह भोगोंमें लिप्त न हो, सम्पत्ति पाकर उन्मत्त न हो, यौवनका गर्व न करे, किंतु इन सबको नाशवंत जानकर अपने कल्याणमें कुछ भी प्रमाद न करे–निरन्तर धर्मसाधन करके आत्माका हित करे।

समानवयसा दृष्ट्वा मृत्युना स्ववशीकृताः ।
कथं चेतः समो नास्ति मनागपि हितात्मनः ॥१५२॥*

---

१. श्लोक १५२ को ऊपर ज्यौंका त्यौं रखकर हमने इसका अर्थ और पाठ इस प्रकार विचारा है :

समानवयसा दृष्ट्वा मृत्युना स्ववशीकृताः ।
कथन्न चेत् समो नास्ति मनागपि हितात्मनः ॥१५२॥

अन्वयार्थ–(समानवयसा दृष्ट्वा) समान वयवाले देखकर (मृत्युना स्ववशी-कृताः) मृत्युके द्वारा सभीको अपने वश कर लिया गया हैं अतः अब (आत्मनः हित समो) आत्माके हित समान (मनागपि नास्ति) कुछ भी नहीं है ऐसा (कथं न चेत्) क्यों नहीं समझता ?

भावार्थ–मानो जीवोंके जीवनकी और अपनी वय समान देखकर मृत्युने सबको अपने

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्थ–(यह श्लोक अशुद्ध मालूम होता है) अतएव इसका भावार्थ मात्र लिखा जाता है। मरणने सबको समान देखकर अपने वश कर लिया है, अर्थात् मरणके सामनें कोई छोटा-बड़ा नहीं है। बालक, युवा, वृद्ध सर्व ही मरणके आधीन हैं। मरनेका कोई निश्चय नहीं है। अतएव अपने आत्माके हितमें मन नहीं लगता है यही आश्चर्यकी बात है। जब मरणका निश्चय नहीं है तब आत्माके हितमें कुछ भी ढील न करनी चाहिए।

सर्वाशुचिमये काये नश्वरे व्याधिपीडिते।
को हि विद्वान् रतिं गच्छेद्यस्यास्ति श्रुतसङ्गमः ॥१५३॥

अन्वयार्थ–(यस्य श्रुतसंगमः अस्ति) जिस किसीको शास्त्र-ज्ञानका समागम है (कः हि विद्वान्) ऐसा कौन विद्वान (व्याधिपीडिते) रोगसे पीडित, (सर्व अशुचिमये) सर्व तरह अपवित्र (नश्वरे) एवं नाशवंत (काये) शरीरमें (रतिं गच्छेत्) आसक्त होगा ?

भावार्थ–शास्त्रोंको पढकर जिसने शरीर और आत्माका ठीक ठीक स्वरूप जाना है और तत्त्वोंका मनन किया है वह विद्वान भूलकर भी इस नाशवंत अपवित्र एवं रोगोंसे पीड़ित शरीरमें रति न करेगा। वह इस शरीरके बंधनसे छूटना ही चाहेगा। अतएव अपने आत्माके हितमें जरा भी प्रमाद नहीं करेगा। विद्वान वही है जो विचारपूर्वक कार्य करता है।

चिरं सुपोषितः कायो भोजनाच्छादनादिभिः।
विकृतिं याति सोऽप्यन्ते कास्था बाह्येषु वस्तुषु ॥१५४॥

अन्वयार्थ–(भोजनाच्छादनादिभिः) भोजनवस्त्रादिसे (चिरं सुपोषितः) चिरकाल तक भले प्रकार पालन की हुई (कायः) यह काय रक्खी जाती है (सः अपि) ऐसी यह काय भी (अन्ते) अन्तमें या मरणके समय (विकृतिं याति) विकारको प्राप्त हो जाती है, बिगड जाती है, अपने वश नहीं रहती है। (बाह्येषु वस्तुषु) बाहरी पदार्थोंमें तब (का) क्या (आस्था) विश्वास किया जावे ?

भावार्थ–स्त्री, पुत्र, मित्र, धन, धान्य, मकान, नौकर, वस्त्रादि, रुपया, पैसा आदि पदार्थ बिलकुल अपनेसे भिन्न हैं तथापि उनका सम्बन्ध इस शरीरसे ही है। जिस शरीरके साथ आत्मा दिन-रात रहता है तथा जिसे

वशमें कर लिया है, संसारके सभी जीवोंको घेर लिया है। मृत्यु जीवनके साथ चिपक कर चलती है, इस प्रकार जीवन और मृत्युकी वय समान है। जीवनके साथ मरण लगा हुआ है। ऐसा जानकर हे जीव ! मृत्युसे छूटनेका उपाय केवल आत्माका कल्याण कर लेना है। उसमें किञ्चित् भी प्रमाद करना योग्य नहीं है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वह रातदिन भोजन, वस्त्र देकर पालता है, और बड़ी भारी सँभाल रखता है, जिस शरीरके पीछे धर्म-कार्यमें भी हानि पहुँचा देता है वही शरीर अन्तमें अपनेको छोड़ देता है। जब वह शरीर ही अपना नहीं रहता है तब बाहरी पदार्थोंमें कैसे विश्वास किया जावे कि वे अपने रहेंगे ? अर्थात् इस आत्माका कोई साथी-संगी नहीं है। एक अपना पाला हुआ धर्म है जो हर जगह सहायी होता है। इसलिए शरीरके पीछे आत्महित न करना बड़ी भारी मूढता है।

नायातो बन्धुभिः सार्द्धं न गतो बन्धुभिः समं ।
वृथैव स्वजने स्नेहो नराणां मूढचेतसाम् ॥१५५॥

अन्वयार्थ–(बन्धुभिः सार्द्धं न आयातः) यह जीव अपने भाई बन्धुओंके साथ-साथ नहीं जन्मता है **(न बन्धुभिः समं गतः)** न बन्धुओंके साथ-साथ मरता है। **(मूढचेतसाम् नराणां)** मूढबुद्धि मानवोंका **(स्वजने स्नेहो)** अपने बन्धु एवं रिश्तेदारोंमें स्नेह **(वृथा एव)** वृथा ही है।

भावार्थ–जो कोई मूढ प्राणी हैं, जिनको अपने आत्माके स्वभावका व उसकी भिन्न सत्ताका विश्वास नहीं है वे रातदिन स्त्री-पुत्र-मित्रादिके स्नेहमें पागल रहते हैं। वे इस बातको भूल जाते हैं कि हरएक जीव भिन्न-भिन्न ही पैदा होता है, भिन्न-भिन्न ही मरता है। न कोई किसीके साथ जन्मता है, न कोई किसीके साथ मरता है। तथा एक कुटुम्बमें जीव विभिन्न गतियोंसे आकर जन्म लेते हैं, कोई पशुगतिसे, कोई मानवगतिसे, कोई देवगतिसे और कोई तिर्यंचगतिसे आते हैं, तथा अपने पाप व पुण्यके अनुसार कोई किसी गतिमें और कोई किसी गतिमें चले जाते हैं। किसीके साथ किसीका कोई चिरकालका सम्बन्ध नहीं है। एक कुटुम्बमें रहते हुए भी सब कोई स्वार्थवश ही एक दूसरेसे स्नेह करते हैं। इसलिए ज्ञानी प्राणी इन कुटुम्बीजनोंके पीछे अपने आत्माके हितको कभी नहीं भूलते हैं। जलमें कमलवत् अलिप्त रहते हुए अपने आत्मोद्धारमें सदा सावधान रहते हैं।

जातेनावश्यमर्तव्यं प्राणिना प्राणधारिणा ।
अतः कुरुत मा शोकं मृते बन्धुजने बुधाः ॥१५६॥

अन्वयार्थ–(प्राणधारिणा प्राणिना) प्राणोंको धरनेवाला प्राणी **(जातेन)** जो जन्मा है **(अवश्य मर्तव्यं)** उसे अवश्य मरना पडेगा **(अतः)** इसलिए **(बुधाः)** बुद्धिमान मानव **(बन्धुजने)** बन्धुजनके **(मृते)** मरनेपर **(शोकं मा कुरुत)** शोक नहीं करते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थ—शरीर एक परदेशके घरके समान है, उसमें प्राणी अपनी आयुसे अधिक नहीं रह सकता है। जन्मके पीछे अवश्य मरण है, मरणसे कोई बचा भी नहीं सकता है तब किसीके मरनेका शोक करना वृथा ही है, कुछ लाभ नहीं होता है। ज्ञानीजन अपने कुटुम्बियोंसे मात्र प्रयोजनवश स्नेह रखते हैं। अतएव उनके संयोगमें हर्ष व उनके वियोगमें विषाद नहीं करते हैं—समभाव रखते हैं।

आत्मकार्यं परित्यज्य परकार्येषु यो रतः ।
ममत्वरतचेतस्कः [1]स्वहितं भ्रंशमेष्यति ॥१५७॥

अन्वयार्थ—(यः) जो कोई (आत्मकार्यं) अपने आत्माके हितका काम (परित्यज्य) छोडकर (ममत्वरतचेतस्कः) चित्तमें ममताभावमें लीन होकर (परकार्येषु रतः) दूसरोंके कार्योंमें ही रत हो जाता है वह (स्वहितं) अपने आत्महितको (भ्रंशं एष्यति) नाश कर देता है।

भावार्थ—जो कोई शरीरका व कुटुम्बका मोही बनकर रातदिन शरीरकी व कुटुम्बकी चिंतामें ग्रसित हो उन्हींके कार्योंमें लीन हो जाता है और अपने आत्माका उद्धार जिस धर्मसेवनसे होता है उसको बिलकुल ध्यानमें नहीं लेता है वह अपना आत्म-कल्याण न करता हुआ संसारमें पापके भारसे कष्ट पाएगा, परन्तु जो विवेकी आत्महितको करता हुआ परोपकार बुद्धिसे परका भला करता है वह अपनी रक्षा कर सकेगा।

स्वहितं तु भवेज्ज्ञानं चारित्रं दर्शनं तथा ।
तपःसंरक्षणं चैव सर्वविद्भिस्तदुच्यते ॥१५८॥

अन्वयार्थ—(स्वहितं तु) अपने आत्माका हित तो (दर्शनं तथा ज्ञानं चारित्रं चैव तपःसंरक्षणं) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र तथा तपकी रक्षासे (भवेत्) है (तत्) इस बातको (सर्वविद्भिः उच्यते) सर्वज्ञोंने कहा है।

भावार्थ—सर्वज्ञदेवने भलेप्रकार जानकर यह उपदेश किया है कि सम्यग्दर्शन आदि चारों आराधनोंका बारबार विचार करना चाहिए व इनका सेवन करना चाहिए। यही धर्मसाधन है। इसीके प्रभावसे भावोंकी शुद्धि होती है जिससे कर्मोंका संवर और कर्मोंकी निर्जरा होती है, यही मोक्षका उपाय है। इनके आराधनसे वर्तमानमें भी जीव सुखी है और आगामी भी सुख पायेगा।

पाठान्तर—१ स्वहितात्।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सुखसम्भोगसंमूढा विषयास्वादलम्पटाः ।
स्वहिताद् भ्रंशमागत्य गृहवासं सिषेविरे ॥१५९॥

अन्वयार्थ–(सुखसम्भोगसंमूढा) जो प्राणी इन्द्रियोंके सुखोंके भोगमें मूढ हो जाते हैं और (विषयास्वादलम्पटाः) विषयोंके स्वादमें लम्पटी हो जाते हैं वे साधु हो करके भी (स्वहितात्) अपने आत्माके हितसे (भ्रंशं आगत्य) भ्रष्ट होकर (गृहवासं) गृहस्थके जीवनको (सिषेविरे) सेवन करने लगते हैं।

भावार्थ–आत्माका हित आत्मानन्दका प्रेम व विषयोंसे वैराग्य है इसीसे मुक्तिका लाभ होता है। साधुपदको इसीलिए धारण किया जाता है कि निश्चिन्त होकर आत्मध्यान व शास्त्रमनन करके आत्माकी उन्नति की जावे और कर्मोंकी निर्जरा की जावे, परन्तु यदि कोई साधुपदमें रहते हुए मिथ्यात्वके उदयसे विषयोंका लम्पटी हो जावे व सांसारिक सुखोंका मोही हो जावे तो उसका साधुपद भ्रष्ट हो जाता है, और उसे फिर उसी गृहस्थपनेको ग्रहण करना पडता है जिसका उसने त्याग किया था। अर्थात् फिर वह साधारण मानव होकर अपने मानव जन्मको नष्ट कर देता है।

वियोगा बहवो दृष्टा द्रव्याणां च परिक्षयात् ।
तथापि निर्घृणः चेतः सुखास्वादनलम्पटः ॥१६०॥

अन्वयार्थ–(द्रव्याणां च परिक्षयात्) धनादिके नाश हो जानेसे (बहवः वियोगाः दृष्टाः) बहुतंसे वियोग दिखलाई पडते हैं (तथापि) तो भी (निर्घृणः चेतः) भोगोंसे घृणा न करता हुआ (सुखास्वादनलम्पटः) इन्द्रियसुखके स्वादमें लम्पटी हो जाता है।

भावार्थ–इस जगतमें भोग सम्पदाएँ स्थिर नहीं रहती हैं। पापके उदयसे बहुतोंकी धनादि वस्तुएँ नाश हो जाती हैं तब उनको इष्टवियोगका बड़ा कष्ट होता है। वे दुःखोंके सागरमें डूब जाते हैं। यह संसार संयोग-वियोगरूप है। सम्पदा स्थिर नहीं रह सकती है, यौवन अस्थिर विनाशीक है, शरीर क्षणिक है, अचानक मरण आ जाता है। प्राणी विषयोंकी तृष्णाको लिये हुए मर जाता है, स्वप्नसम क्षणभंगुर भोगोंका मोह महान दुःखदायी है, ऐसा जानकर भी अज्ञानी प्राणी इनसे घृणा नहीं करता है और फिर भी उन्हीं नाशवंत अतृप्तिकारी विषयोंके स्वादमें लम्पटी बना रहता है, जिससे अपने दोनों लोक बिगाड़ता है।

यथा च जायते चेतः सम्यक्शुद्धिं सुनिर्मलाम् ।
तथा ज्ञानविदा कार्यं प्रयत्नेनापि भूरिणा ॥१६१॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्वयार्थ-(ज्ञानविदा) ज्ञानीको (यथा च चेतः सुनिर्मलाम् सम्यक् शुद्धिं जायते) जिस प्रकार यह मन निर्मल हो जावे और भले प्रकार आत्माकी शुद्धि हो जावे (तथा भूरिणा प्रयत्नेन अपि कार्यं) उसी प्रकार बहुत प्रयत्न करके भी आचरण करना चाहिए।

भावार्थ-जो आत्माका सच्चा हित करना चाहें उन ज्ञानियोंको उचित है कि अपने मन, वचन, कायकी प्रवृत्ति इस तरहकी रखें जिससे मनसे विषयलम्पटताका मैल निकल जावे। इस स्वप्नसम संसारसे वैराग्य हो जावे, आत्माके ध्यानका तथा आत्मोद्धारका ऐसा प्रेम हो जावे जिससे आत्माका कर्म-मैल कटे और यह शुद्धिके मार्गपर आरूढ होता हुआ चला जावे। मानव-जन्मका यही सार है कि इस आत्माको संसारकी पराधीनतासे बचाकर स्वाधीन किया जावे। विषयोंकी लम्पटता अनेक अनर्थोंमें पटकने-वाली है। गृहस्थ भी धर्म, अर्थ, काम पुरुषार्थोंका साधन नहीं कर सकता है। गृहत्यागीके साधनमें तो विषयलम्पटता वैरीपनका काम करती है।

विशुद्धं मानसं यस्य रागादिमलवर्जितम् ।
संसाराग्र्यं फलं तस्य सकलं समुपस्थितम् ॥१६२॥

अन्वयार्थ-(यस्य) जिसका (मानसं) मन (रागादिमलवर्जितम्) रागादि मैलसे रहित (विशुद्धं) शुद्ध है (तस्य) उसीको (संसाराग्र्यं फलं) इस जगतका मुख्य फल (सकलं) सकल रूपसे (समुपस्थितं) प्राप्त हुआ है।

भावार्थ-इस जगतमें उसी मानवका जीवन सफल है जो अपने मनको रागादि भावोंसे दूर रखके आत्माके स्वभावके चिंतवनसे उसे शुद्ध करता है तथा वीतराग व समभावरूप परिणामोंसे अपनेको जोड़ता है। क्योंकि सरागता कर्मबन्ध करने-वाली है, वीतरागता कर्मबन्धका क्षय करनेवाली है। मोक्षका यथार्थ यत्न करना ही इस संसारमें जन्म लेनेका मुख्य फल है। ज्ञानीको निरंतर समभाव रखकर शुद्धात्म-चिन्तवन करना योग्य है।

संसारध्वंसने हीष्टं धृतिमिन्द्रियनिग्रहे ।
कषायविजये यत्नं नाभव्यो लब्धुमर्हति ॥१६३॥

अन्वयार्थ-(अभव्यः) अभव्य जीव (संसारध्वंसने हीष्टं) संसारके नाशमें प्रेम, (इन्द्रियनिग्रहे धृतिं) इन्द्रियोंके जीतनेमें धैर्य, (कषायविजये यत्नं) कषायोंके विजयमें यत्न (हि लब्धुं न अर्हति) निश्चयसे नहीं कर सकता है-उसके योग्यताका अभाव है।

भावार्थ-अभव्य जीवके इतना तीव्र मिथ्यात्व तथा अनंतानुबंधी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कषायका उदय होता है कि उसकी रुचि सांसारिक सुखोंसे नहीं हटती है। वह इन्द्रियसुखका ही प्रेमी होता है। फिर यह कैसे संभव हो सकता है कि वह अभव्य जीव संसारके नाशमें प्रेम करे, पाँच इन्द्रियोंको रोक ले तथा क्रोधादि कषायोंके जीतनेका उद्यम कर सके? यद्यपि भव्यकी पहचान सर्वज्ञके ज्ञानगोचर है, तथापि जिसकी कुछ भी प्रीति धर्मसे हो और संसारसे कुछ वैराग्य हो तब अपनेको भय जानकर इन्द्रिय-कषायोंके विजयका यत्न करते ही रहना चाहिए।

एतदेव परं ब्रह्म न विन्दन्तीह मोहिनः।
यदेतच्चित्तनैर्मल्यं रागद्वेषादिवर्जितम् ॥१६४॥

अन्वयार्थ–(यत् एतत्) जो यह (रागद्वेषादिवर्जितम्) रागद्वेषादि रहित (चित्तनैर्मल्यं) चित्तकी निर्मलता है (एतत् एव परं ब्रह्म) यह ही परब्रह्मका स्वरूप है (इह मोहिनः न विन्दन्ति) परन्तु संसारके मोही जीव इस बातको नहीं अनुभव करते हैं, अतः संसारमें उनका भ्रमण होता है।

भावार्थ–स्वयं आत्मा ही परमात्मा या ब्रह्मस्वरूप है, मोहनीय कर्मके उदयसे इसमें रागद्वेष मोह विकार हो रहे हैं। यदि उनको हटा दिया जावे तो भावोंमें वीतरागता झलक जावे। वीतरागता वह निर्मलता है जिससे परब्रह्मका दर्शन होता है। जैसे पवनके क्षोभसे रहित निर्मल समुद्रके जलमें पडा हुआ पदार्थ दीखता है, इसी तरह शुद्ध निश्चयनयके द्वारा सर्व जीवमात्रको एकरूप शुद्ध देखना चाहिए। इसी अभ्याससे रागद्वेष मिटेंगे और वीतरागता बढेगी तब आत्मध्यान सहजमें सिद्ध होगा और वह सर्व कर्म काटकर परमात्मा हो जायेगा।

तथानुष्ठेयमेतद्धि पण्डितेन हितैषिणा।
यथा न विक्रियां याति मनोऽत्यर्थं विपत्स्वपि ॥१६५॥

अन्वयार्थ–(हितैषिणा पण्डितेन) आत्महित वांछक पंडितका कर्तव्य है कि (विपत्स्वपि) विपत्तियोंके पडनेपर भी (यथा मनः अत्यर्थं विक्रियां न याति) जिस तरह मनमें अत्यधिक विकार उत्पन्न न हो (तथा एतत् हि अनुष्ठेयम्) उस तरह ही आचरण करना चाहिए।

भावार्थ–भेदविज्ञानी विवेकी एवं आत्महितैषी विद्वानको उचित है कि वह अपने मनका ऐसा साधन करे कि उसमें रागद्वेषका विकार पैदा न हो। शत्रु-मित्र, सुख-दुःख, निन्दा-प्रशंसामें समभाव रखे। यदि उपसर्ग पड़े, संकट आ जावे, अपने प्राणोंका घात भी होता हो तो भी मनमें क्रोध या

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

द्वेषभाव पैदा न होने दें। सर्व अच्छी या बुरी अवस्थाओंका कारण अपना ही बाँधा हुआ पुण्य व पापकर्मका उदय है, अन्य तो मात्र निमित्त कारण हैं, ऐसा जानकर सर्व अवस्थाओंमें समभाव रखना चाहिए। जितनी-जितनी सहनशीलता बढ़ती जायेगी उतना-उतना मन दृढ़ व क्षमाशील बनता जायेगा। शुद्धात्माके मननका अभ्यास प्राणीको क्षमावान बनाता है। मोक्षमार्गी साधु ऐसी ही उत्तम क्षमाका पालन करते हैं।

धन्यास्ते मानवा लोके ये च प्राप्यापदां पराम्।
विकृतिं नैव गच्छन्ति यतस्ते साधुमानसाः ॥१६६॥

अन्वयार्थ–(ये च) जो कोई (परां आपदां प्राप्य) कठिन भारी आपत्तिको पा करके (विकृतिं नैव गच्छन्ति) अपने भावोंमें विकार नहीं आने देते, (ते मानवा लोके धन्याः) वे मानव इस लोकमें धन्य हैं (यतः ते साधुमानसाः) क्योंकि उनका मन साधुवृत्तिमें आ गया है।

भावार्थ–मनको साधनेसे, बारबार वीतरागताका अनुभव करनेसे वही आदत पड जाती है जिसमें मन क्षमाशील बना रहे। वास्तवमें वे संत पुरुष धन्यवादके योग्य हैं, परम प्रशंसनीय हैं जो तीव्र संकटोंके पड़नेपर भी कर्मोदयका विचारकर समभाव रखते हैं। मोक्षार्थीको प्रयत्न करके भाव अहिंसाका भले प्रकार अभ्यास करना योग्य है।

संक्लेशो न हि कर्तव्यः संक्लेशो बन्धकारणं।
संक्लेशपरिणामेन जीवो दुःखस्य भाजनम् ॥१६७॥

अन्वयार्थ–(संक्लेशः न हि कर्तव्यः) संक्लेशभाव नहीं करना चाहिए, (संक्लेशः बन्धकारणं) संक्लेशभाव कर्मबंधका कारण है, (संक्लेशपरिणामेन) संक्लेशभावसे (जीवः) यह जीव (दुःखस्य भाजनम्) दुःखोंका पात्र होता है।

भावार्थ–दुःखित परिणाम या आर्तध्यान करना उचित नहीं है। इन भावोंसे कुछ लाभ नहीं होता है। वर्तमानमें मानसिक दुःख होता है। शरीरका रुधिर सूखनेसे शरीर निर्बल होता है। लौकिक कार्योंमें उपयोग नहीं लगता है। असातावेदनीय आदि अशुभ-प्रकृतियोंका बन्ध होता है, जिससे परलोकमें भी दुःखोंको भोगना पडता है। दुःखोंके कारणोंके होनेपर अपने ही किये हुए पापकर्मोंको याद करना चाहिए, जिनके उदयसे दुःख हुआ है। इस दुःखको संतोषपूर्वक भोग लेना चाहिए, तब पिछला कर्म झड़ जायेगा, नवीन बन्ध न होगा और यदि होगा भी तो वह अत्यल्प (बहुत थोडा) होगा।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संक्लेशपरिणामेन जीवः प्राप्नोति भूरिशः ।
सुमहत् कर्मसम्बन्धं भवकोटिषु दुःखदम् ॥१६८॥

अन्वयार्थ—(संक्लेशपरिणामेन) संक्लेशभावसे (जीवः) यह जीव (भवकोटिषु दुःखदम्) करोडों जन्मोंमें दुःख देनेवाले (सुमहत् कर्मसम्बन्धं) बहुत अधिक कर्मके बन्धको (भूरिशः) बहुत बार (प्राप्नोति) प्राप्त करता है।

भावार्थ—जब परिणाम दुःखित होते हैं तब बड़े अशुभभाव उस समय तीव्र कर्मका बन्ध कर देते हैं, उन कर्मोंके उदयसे जब फिर दुःख होता है तब फिर संक्लेशभाव करता है फिर भी तीव्र कर्मबन्ध करता है। इस तरह कर्मबन्धकी शृंखला और दुःख भोगनेकी शृंखला करोडों जन्मोंतक चली जाती है। बिना सम्यग्दर्शनके लाभके इन भावोंका छूटना कठिन है। मिथ्यादृष्टि विषयातुर होता हुआ अधिकतर संक्लेशभाव करता रहता है। उसके परिणाम अशुभ रहते हैं। जब वह कदाचित् कोई पुण्यका काम भी करता है तब भी उसकी भावना निदान-आर्तध्यानकी रहती है। जीवोंके तीन प्रकारके भाव होते हैं—संक्लेशभाव, विशुद्धभाव और शुद्धभाव। संक्लेशभावोंको अशुभभाव कहते हैं जिससे पापका बन्ध होता है। विशुद्धभावको शुभभाव कहते हैं जिससे पुण्यबन्ध होता है। शुद्धभाव कर्मोंके नाशक हैं। ज्ञानी जीवको संक्लेशभावोंसे अपनेको बचाना चाहिए।

चित्तरत्नमसंक्लिष्टं महतामुत्तमं धनम् ।
येन सम्प्राप्यते स्थानं जरामरणवर्जितम् ॥१६९॥

अन्वयार्थ—(असंक्लिष्टं चित्तरत्नं) संक्लेशरहित शांतचित्त (महतां उत्तमं धनं) महान पुरुषोंका उत्तम धन है (येन) जिसके द्वारा (जरामरणवर्जितम् स्थानं) जरा-मरणसे रहित स्थान (सम्प्राप्यते) प्राप्त होता है।

भावार्थ—जिन महान पुरुषोंने संक्लेशभावको त्यागकर शांत-भाव रखनेका अभ्यास किया है, जो दुःखमें व सुखमें समताभाव रखते हैं उनके कर्मोंकी निर्जरा अधिक होती है, नवीन कर्मबंध बहुत थोडा होता है, जिनका फल यह होता है कि वह सर्व कर्मबंधसे छूटकर जन्मजरा-मरणरहित अविनाशी मोक्षपदको प्राप्त कर लेता है। समताभाव वर्तमानमें भी सुख देता है और उससे आगामी कालमें भी सुख होता है।

सम्पत्तौ विस्मिता नैव विपत्तौ नैव दुःखिताः ।
महतां लक्षणं ह्येतन्न तु द्रव्यसमागमः ॥१७०॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्वयार्थ–(एतत् हि) यह ही (महतां लक्षणं) महान पुरुषोंका लक्षण है कि वे (सम्पत्तौ) धनसम्पदा होने पर (विस्मिता नैव) कभी भी घमंड नहीं करते हैं, (विपत्तौ) आपत्तिमें संकट पडनेपर (नैव दुःखिताः) कभी दुःखित नहीं होते हैं। (द्रव्यसमागमः न तु) केवल धनका लाभ महान पुरुषोंका लक्षण नहीं है।

भावार्थ–बड़े आदमी उनको नहीं कहना चाहिए जो मात्र धनके स्वामी हैं। वे ही जगतमें माननीय महान प्राणी हैं जिनका आत्मा उदार है, जो संपत्ति-विपत्तिमें समभाव रखते हैं, धनादि परिग्रहकी वृद्धि होनेपर न तो वे घमंड करते हैं, न कोई आश्चर्य करते हैं। ये धनादि पुण्यकर्मरूपी वृक्षके फल हैं। पुण्यकर्मका उदय सदा एकसा नहीं रहता है। धनादिका समागम क्षणिक है। इसी तरह यदि तीव्र दुःख आ जाते हैं तब आकुलित नहीं होते हैं। तब भी यह ही विचार करते हैं कि यह पापकर्मोंका उदय है। जिन पापकर्मोंको मैंने बाँधा था, अपनी करणीका फल मुझे समभावसे भोग लेना चाहिए; तथा ये पाप और इनका उदय भी क्षणिक है–सदा रहनेवाला नहीं है। संक्लेशभाव करनेपर भी दुःखोंसे छुटकारा नहीं होगा। ऐसा जानकर महान पुरुष सम्पत्ति व विपत्तिमें समभाव या शांतभाव रखते हैं जिससे वे इस लोकमें भी सुखी रहते हैं व परलोकमें भी सुखके भाजन होते हैं, उनको पुण्यकर्मका बन्ध होता है। वे ही महान पुरुष हैं जो समभाव या शांतभावके स्वामी हैं। मात्र धनवान लोग महान नहीं कहे जा सकते।

आपत्सु सम्पतन्तीषु पूर्वकर्मनियोगतः।
शौर्यमेव परं त्राणं न युक्तमनुशोचनम् ॥१७१॥

अन्वयार्थ–(पूर्वकर्मनियोगतः) पूर्वकर्मोंके उदयसे (आपत्सु सम्पतन्तीषु) आपत्तियोंके आ जानेपर (शौर्यं एव परं त्राणं) दृढता ही परम रक्षक है (अनुशोचनम् युक्तं न) बारबार शोच करना उचित नहीं है।

भावार्थ–जैसे मेरुपर्वत प्रलयकालकी पवन चलनेपर भी अपनी दृढताको नहीं त्यागता है, दृढ रहनेसे उन पवनके आक्रमणोंको जीत लेता है, वैसे ही महान पुरुष अपने ही बाँधे हुए पापकर्मके उदयसे प्राप्त आपत्तियोंके पडने पर अपने मनको दृढ, साहसी व वीर-भावयुक्त रखते हैं, जिससे वे संकटोंको वीरतासे सह लेते हैं। वे बारबार शोच करके दुःखित परिणाम नहीं करते हैं। यह क्षमाभाव या सहनशीलभाव उनके जीवनको साहसी बनाता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विशुद्धपरिणामेन शान्तिर्भवति सर्वतः ।
संक्लिष्टेन तु चित्तेन नास्ति शान्तिर्भवेष्वपि ॥१७२॥

अन्वयार्थ–(विशुद्धपरिणामेन) निर्मल भावोंसे (सर्वतः शान्तिः भवति) सर्व तरफसे शान्ति रहती है (संक्लिष्टेन तु चित्तेन) परन्तु संक्लेश परिणामोंसे (भवेषु अपि) भवभवमें भी (शान्तिः नास्ति) शान्ति नहीं मिल सकती हैं।

भावार्थ–निर्मल भावोंसे यहाँ भी शान्ति रहती है व परलोकमें भी शान्ति मिलती है; क्योंकि साताकारी कर्मोंके बन्धका साताकारी फल मिलता है परन्तु अशुभ परिणामोंसे यहाँ भी भावोंमें संक्लेशमात्र रहता है तथा उन भावोंसे पापका बंध होता है जिसके फलसे भविष्यके भावोंमें भी दुःख प्राप्त होता है, ऐसा जानकर शांतभावमें सदा रहना योग्य है।

संक्लिष्टचेतसां पुंसां बुद्धिः संसारवर्द्धिनी ।
विशुद्धचेतसां वृत्तिः सम्यक्त्ववित्तदायिनी ॥१७३॥

अन्वयार्थ–(संक्लिष्टचेतसां पुंसां) संक्लेशपरिणामधारी पुरुषोंकी (बुद्धिः) बुद्धि (संसारवर्द्धिनी) संसारको बढानेवाली होती है (विशुद्धचेतसां वृत्तिः) परन्तु निर्मल भावधारी पुरुषोंकी प्रवृत्ति या सहनशीलता (सम्यक्त्ववित्तदायिनी) सम्यग्दर्शनरूपी धनको देनेवाली होती है।

भावार्थ–जिनके परिणामोंमें संसारके पदार्थोंकी तृष्णाके वश रातदिन अशुभ संक्लेशभाव रहते हैं उनके मिथ्यात्व व अनन्तानुबंधी कषायोंका निरन्तर बंध पडता है। वे निगोद पर्यायमें चले जाते हैं। वहाँ अनन्तकाल तक जन्म-मरण करते हैं। परन्तु जिनके परिणाम शुभ हैं, शान्त हैं वे तत्त्वोंका मनन करते हैं। उनको निज आत्माका श्रद्धान होना बहुत संभव है। सम्यग्दर्शनके लाभके समान जगतमें कोई धन नहीं है। शांत चित्तवालोंको ही ऐसे अपूर्व धनकी प्राप्ति होती है। वे इस धनके प्रतापसे मुक्तिसुन्दरीको वश कर लेते हैं।

यदा चित्तविशुद्धिः स्यादापदः सम्पदस्तथा[1] ।
समस्तत्त्वविदां पुंसां सर्वं हि महतां महत् ॥१७४॥

अन्वयार्थ–(यदा चित्तविशुद्धिः स्यात्) जब मनमें विशुद्धता रहती है तब (तत्त्वविदां पुंसां) तत्त्वज्ञानी पुरुषोंके चित्तमें (आपदः तथा सम्पदः समः) आपत्तिमें व सम्पदाओंमें समान भाव रहता है (महतां सर्वं हि महत्) महान पुरुषोंकी सर्व ही चेष्टा महान होती है।

पाठान्तर–१. तदा।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थ–जो वस्तुके यथार्थ स्वरूपको विचारनेवाले ज्ञानी जीव हैं वे अपने चित्तको सदा निर्मल रखते हैं। विषयोंकी तृष्णासे और उन विषयोंके वियोगसे अपने भावोंको मैला नहीं रखते हैं। वे तत्त्वज्ञानी आत्मसुखके प्रेमी होते हैं। अपने बाँधे हुए कर्मोंके उदयसे जब आपत्तियाँ आ जाती हैं या सम्पत्तियाँ हो जाती है तब दोनों दशाओंमें समभाव रखते हैं। वे जानते हैं कि यह सर्व पुण्यपापका खेल हैं, दोनों ही नाशवन्त हैं। इनके संयोगमें हर्ष-विषाद करना व्यर्थ है। महात्मा सम्यग्दृष्टि जीव जगतमें ज्ञातादृष्टा बने रहते हैं। दुःख पडने पर दुःखी व सुख पडने पर उन्मत्त नहीं होते हैं।

परोऽप्युत्पथमापन्नो निषेद्धुं युक्त एव सः ।
किं पुनः स्वमनोऽत्यर्थं विषयोत्पथयायिवत् ॥१७५॥

अन्वयार्थ–(परः उत्पथं आपन्नः अपि) दूसरा कोई कुमार्गगामी हो गया है तो भी (स एव निषेद्धुं युक्त) उसे मना ही करना चाहिए यह तो ठीक ही है परन्तु (विषयोत्पथयायिवत्) विषयोंके कुमार्गमें जानेवाले (स्वमनः) अपने मनको (अत्यर्थं) अतिशयरूप (किं पुनः) क्यों नहीं रोकना चाहिए ? अर्थात् अवश्य रोकना चाहिए।

भावार्थ–जो मानव दूसरोंको कुमार्गसे हटाकर सुमार्गपर चलनेका उपदेश देते हैं परन्तु अपने मनको विषयोंसे नहीं रोकते हैं उनके लिए आचार्य कहते हैं कि भाई ! जैसे दूसरोंको कुमार्गसे रोकना उचित है वैसे अपने मनको भी तो विषयोंसे रोकना चाहिए। दूसरे हमारे उपदेशसे सुमार्गपर आ जावेंगे या कुमार्गसे बचेंगे इसका कोई निश्चय नहीं है। उपदेशदाताका उपदेश दूसरे पर असर करेगा तब ही वह मान सकेगा परन्तु अपना मन तो अपने आधीन है। जब हम भले प्रकार अपने मनको समझावेंगे तो हम अपने मनको कुमार्ग पर जानेसे रोक सकेंगे। इसलिए हमें अपने आपको विषयोंके मार्गसे अवश्य बचाना चाहिए।

अज्ञानाद्यदि मोहाद्यत्कृतं कर्म सुकुत्सितम् ।
व्यावर्त्तयेन्मनस्तस्मात् पुनस्तन्न समाचरेत् ॥१७६॥

अन्वयार्थ–(यदि) यदि (अज्ञानात् मोहात्) अज्ञानके वशीभूत होकर या मोहके आधीन होकर (यत् सुकुत्सितम् कर्म कृतं) जो कोई अशुभ काम किया गया (तस्मात् मनः व्यावर्तयेत्) उससे मनको हटा लेवें (पुनः) फिर (तत् न) उस कामको नहीं (समाचरेत्) करें।

भावार्थ–बहुधा अशुभ काम या तो अज्ञानसे, बिना समझे हो जाते हैं, या जानने पर भी मोहके प्रभावसे–कषायके तीव्र उदयसे हो जाते हैं। उस

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समय ज्ञानीको विचार करके अपने मनको रोकना चाहिए। मनको इस तरह संयम साधनमें लगा देना चाहिए कि मनमें उस कामसे ग्लानि हो जावे और फिर दुबारा मन उस खराब कार्यकी ओर न प्रवर्ते। आत्मबल जो अंतराय कर्मके क्षयोपशमसे प्राप्त होता है सो हरएक मानवके पास मौजूद है। उस आत्मबलसे अशुभ मार्गमें जानेकी इच्छाओंको रोकना चाहिए व आत्महित आपसे हो उस मार्गमें जोड़नेका अभ्यास करना चाहिए।

अचिरेणैव कालेन फलं प्राप्स्यसि दुर्मते !
विपाकेऽतीव तिक्तस्य कर्मणो यत्त्वया कृतम् ॥१७७॥*

अन्वयार्थ–(दुर्मते) हे दुर्बुद्धि ! (त्वया यत् कृतम्) तूने जो कर्म किये हैं (अतीव तिक्तस्य कर्मणः) उन अत्यन्त बुरे कर्मोंके (विपाके) पकने पर (अचिरेण एव कालेन) थोडेसे ही कालमें तू (फलं प्राप्स्यसि) फल प्राप्त करेगा।

भावार्थ–कुबुद्धि जीव पाप-कर्मोंको करते हुए भविष्यमें उनका फल बड़ा कटुक होगा, इस बातका विचार नहीं करता है, उस समय असाता वेदनीय आदि पाप कर्मोंमें तीव्र अनुभाग पड़ जाता है। उनका कुछ काल पीछे जब फल प्रकट होता है तब प्राणीको असहनीय दुखोंकी प्राप्ति होती है। ऐसा विचार कर बुद्धिमानको कभी ऐसे काम नहीं करने चाहिए जिनसे अशुभ कर्मोंका बन्ध होता हो।

वर्धमानं हि तत्कर्म संज्ञानाद्यो न शोधयेत् ।
सुप्रभूतभूतसंग्रस्तः स पश्चात् परितप्यते ॥१७८॥

अन्वयार्थ–(यः) जो कोई (तत् हि वर्धमानं कर्म) इस बढते हुए पापकर्मको (संज्ञानात्) सम्यग्ज्ञानके द्वारा (न शोधयेत्) दूर नहीं करता है (सः) वह (सुप्रभूतभूतसंग्रस्तः) अति तीव्र कर्मरूपी भूतसे पकड़ा हुआ (पश्चात्) पीछे (परितप्यते) पछताता है।

भावार्थ–यदि अज्ञान या मोहके वशीभूत होकर अपनेसे पाप कर्म हो जावे तो उसकी शुद्धि सम्यग्ज्ञानके द्वारा धर्माचरण करके करनी चाहिए।

---

* श्लोक १७७ के बाद अन्य प्रतिमें सिद्धांतसारादिसंग्रहके अनुसार एक श्लोक इस प्रकार है :

स्वल्पेनैव कालेन फलं प्राप्स्यसि यत्कृतं ।
शश्वदात्मकर्मम्यां गोपयत्सुमनागपि ॥१॥

भावार्थ–हे जीव! निरन्तर उपार्जित किये हुए जिन कर्मोंका फल तू थोड़े ही समयमें प्राप्त करेगा, उन कर्मोंसे तुझे अब किंचित् भी अपनी रक्षा करनी चाहिए, अर्थात् उन्हें समभावसे भोग लेना चाहिए।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जो कोई धर्मकी ओर लक्ष्य नहीं देता है और पापकर्मको बढ़ाता ही रहता है, उसका बाँधा हुआ तीव्र पापकर्म जब उदयमें आता है तब प्राणीको बहुत कष्ट होता है। तब उसके मनमें पश्चात्ताप भी होता है।

सुखभावकृता मूढाः किं न कुर्वन्ति मानवाः ।
येन सन्तापमायान्ति जन्मकोटिशतेष्वपि ॥१७९॥

अन्वयार्थ–(सुखभावकृताः मूढाः मानवाः) सुख पानेके भावसे प्रेरित होकर मूर्ख मनुष्य (किं न कुर्वन्ति) क्या क्या पाप नहीं कर डालते हैं (येन) जिस पापसे (जन्मकोटिशतेषु अपि) करोडों जन्मोंमें भी (सन्तापं आयान्ति) दुःखको पाते हैं ?

भावार्थ–इन्द्रियोंके सुखोंकी अतितृष्णाके वश प्राणी हिंसादि पापोंको व जूआ खेलना, मांसाहार, मद्यपान, चोरी, शिकार, वेश्या और परस्त्रीसेवन आदि पापको बेखटके कर ड़ालता है। और भी बड़े बड़े पाप कर ड़ालता है–गाँवमें आग लगा देता है, अनाथोंका और विधवाओंका धन हड़प कर जाता है, देवद्रव्यको चुरा लेता है, यज्ञके नामसे देवी-देवताओंके नामपर घोर प्राणी हिंसा कर लेता है, झूठे सिक्के चला देता है, आदि। इन पापोंसे दीर्घ स्थिति पड़नेवाले व तीव्र अनुभागवाले कर्मोंको बाँध लेता है, उनका उदय करोड़ों जन्मोंमें नरक-तिर्यंचादि गतियोंमें जब मिलता है तब प्राणीको घोर कष्ट होता है।

परं च वञ्चयामीति यो हि मायां प्रयुज्यते ।
इहामुत्र च लोके वै तैरात्मा वञ्चितः सदा ॥१८०॥

अन्वयार्थ–(परं च वञ्चयामि इति) दूसरेको ठग लूँगा ऐसा विचार कर (यः हि) जो कोई (मायां) मायाचार (प्रयुज्यते)का उपाय करते हैं (तैः) उन लोगोंने (लोके च इह अमुत्र) इस लोक तथा परलोक दोनोंमें (सदा) सदा ही (आत्मा वञ्चितः) अपने आपको ठगा है।

भावार्थ–जो कोई सांसारिक पदार्थोंकी इच्छा करके दूसरोंके द्रव्यादिको धोखा देकर लेनेके लिए मायाचार करते हैं, अनेक प्रकारके प्रपंचोंसे दूसरोंको ठगते हैं वे अपने आत्माको ठगते हैं। वे यहाँ भी मलिन भावोंसे आकुलित रहते हैं। दूसरोंको ठगनेके भावसे उनमें हिंसात्मक भाव रहता है, तथा उनका मायाचार जब प्रकट हो जाता है तब वे अविश्वास व निन्दाके पात्र होते हैं, और तीव्र पापसे नरक-तिर्यंचगति बाँधकर कुगतिमें पड़कर दुःख उठाते हैं। उनका भव-भव बिगड़ जाता है। वे अपने आत्माका महान अपराध करते हैं। उसे निम्न अवस्थामें ले जाते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पंचतासन्नतां प्राप्तं न कृतं सुकृतार्जनं ।
स मानुषेऽपि संप्राप्ते हा ! गते जन्म निष्फलम् ॥१८१॥

अन्वयार्थ–(पंचतासन्नतां प्राप्तं) जो व्यक्ति मरणके संनिकट होने पर भी (सुकृतार्जनं न कृतं) पुण्यका लाभ नहीं करता है (सः) वह (मानुषे अपि संप्राप्ते) मानव-जन्म पाकर भी (जन्म निष्फलम् गतं) अपना जन्म व्यर्थ खो देता है (हा) यह बड़े खेदकी बात है।

भावार्थ–बहुतसे मनुष्य अपना सारा जन्म धर्मसेवनके बिना और पुण्यकर्मोंको बाँधे बिना वृथा ही खो देते हैं। यह मानव जन्म सब जन्मोंसे उत्तम है। इस जन्मसे आत्माको मोक्ष तकका लाभ कराया जा सकता है तथा धर्मसाधन आदि परोपकारका काम किया जा सकता है। ऐसा मानव जन्म एक बार यदि वृथा खो दिया जावे तो फिर इसका मिलना अत्यन्त दुर्लभ है। ऐसे अपूर्व अवसरको खो देना बड़ी भारी मूर्खता है।

कर्मपाशविमोक्षाय यत्नं यस्य न देहिनः ।
[1]संसारे च महागुप्तौ बद्धः संतिष्ठते सदा ॥१८२॥

अन्वयार्थ–(यस्य देहिनः) जिस प्राणीका (यत्नं) उपाय (कर्मपाशविमोक्षाय न) कर्मके जालसे छूटनेका नहीं है। (महागुप्तौ संसारे च) इस महान गंभीर कैदके समान संसारमें वह (सदा बद्धः) सदा बँधा हुआ (संतिष्ठते) रहेगा।

भावार्थ–यह संसार अनादिकालसे चला आ रहा है। पुण्य तथा पापकर्मोंका बंध सदा ही इस जीवके होता रहता हैं; क्योंकि इसके परिणामोंमें राग द्वेष मोह सदा पाया जाता है। जब तक कोई भव्यजीव कर्मोंके जालको काटनेका उपाय नहीं करेगा तब तक वह कभी बंधरहित नहीं हो सकता है। बंधनके छूटनेका उपाय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्ररूपी रत्नत्रय धर्मका सेवन है। इस धर्मके सेवनसे वीतरागभाव प्रकट होता है। इस वीतरागभावसे पूर्वबद्ध कर्म निर्बल हो जाते हैं। कितने कर्म तो गिर पडते हैं। ऐसा साधक अवश्य एक दिन कठिन कर्मोंसे मुक्त हो जायेगा, परन्तु जो धर्मसाधनसे उदासीन है वह कभी भी इस भयानक संसारकी जेलसे नहीं निकल सकता।

गृहाचारकुवासेऽस्मिन् विषयामिषलोभिनः ।
सीदंति नरशार्दूला बद्धा बान्धवबन्धनैः ॥१८३॥

अन्वयार्थ–(अस्मिन् गृहाचारकुवासे) इस गृहस्थके खोटे वासमें रहते हुए

पाठान्तर–१. स संसारगहागुप्तौ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(विषयामिषलोभिनः) पाँच इन्द्रियोंके विषयरूपी मांसके लोभी (नरशार्दूलाः) नरसिंह होने पर भी (बान्धवबन्धनैः) बन्धुजनों और परिवारके स्नेह द्वारा (बद्धाः) बँधे हुए (सीदंति) दुःख उठाते रहते हैं।

भावार्थ—महान पराक्रमी पुरुष भी जो इन्द्रियोंके विषयोंके लोलुपी होते हैं वे गृहस्थवासमें रहते हुए रातदिन विषयोंके भोगमें लगे रहते हैं। इच्छित भोगोंके न पाने पर घबड़ाते हैं। इच्छित भोगोंके वियोगपर दुःखी होते हैं। शरीरमें रोगादि होने पर दुःखी होते हैं। धनकी आशामें कष्ट पाते हैं। जितना-जितना विषयभोग किया जाता है उतना-उतना तृष्णाका दाह बढ़ता जाता है। दाहसे जलते हुए कष्टमें जीवन बिताते हैं। फिर तीव्र रागद्वेषके कारण अशुभ कर्म बाँधकर दुर्गतिमें जाकर कष्ट पाते हैं। वास्तवमें वे ही सुखी होते हैं जो विषयरूपी मांसके त्यागी हैं और अतीन्द्रिय सुखरूपी अमृतके प्रेमी हैं। गृहस्थीमें स्त्री, पुत्र, मित्र, भाई, बंधुओंके स्नेहमें रात-दिन संकल्प-विकल्पोंसे प्राणी आकुलित रहते हैं।

गर्भवासेऽपि यद्दुःखं प्राप्तमत्रैव जन्मनि।
[1]अधुना विस्मृतं केन येनात्मानं न बुध्यसे ॥१८४॥

अन्वयार्थ—(अत्रैव जन्मनि) इस ही जन्ममें (गर्भवासे अपि) गर्भके भीतर रहते हुए भी (यत् दुःखं प्राप्तं) जो दुःख तूने उठाए हैं (अधुना केन विस्मृतं) अब तू क्यों उनको भूल गया है (येन) जिससे (आत्मानं न बुध्यसे) तू अपने आत्माको नहीं पहचानता ?

भावार्थ—इस ही जन्मके दुःखोंको जो इसने नौ मास गर्भमें रहकर उठाये हैं, यदि स्मरण किया जावे तो प्राणीको जन्मसे घृणा हो जावे। गर्भमें प्राणीको उल्टे टँगे रहकर महान मलिन स्थानमें दिन पूरे करने पडते हैं। माताके झूठे रससे शरीर बढ़ता है। फिर बड़े कष्टसे गर्भसे निकलता है। गर्भवास नरकवासके समान कष्टप्रद है। यह प्राणी पीछे गृहस्थके मोहमें पड़कर उस गर्भके दुःखको भूले हुए रहता हैं। यदि कोई स्मरण करे तो इसके ये भाव होने चाहिएँ कि मुझे इस जन्म-मरणसे अपनेको बचाना चाहिए। अतएव अपने आत्माके सच्चे स्वरूपका ज्ञान प्राप्त करना चाहिए जिससे आत्मिक धर्मका लाभ हो; क्योंकि आत्मिक धर्म ही वह छैनी है जो कर्मकी बेड़ियोंको काट देती है।

पाठान्तर—१. अधुना किं विस्मृतं तेन।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चतुरशीतिलक्षेषु योनीनां भ्रमता त्वया ।
प्राप्तानि दुःखशल्यानि नानाकाराणि मोहिना ॥१८५॥

अन्वयार्थ–(त्वया) तूने (योनीनां चतुरशीतिलक्षेषु) चौरासी लाख योनियोंमें (भ्रमता) भ्रमण करते हुए (मोहिना) मोही होनेके कारण (नानाकाराणि दुःखशल्यानि) नाना प्रकारके दुःखरूपी काँटोंको (प्राप्तानि) पाया है ।

भावार्थ–एकेन्द्रियादि पंचेन्द्रिय पर्यन्तकी सर्व उत्पत्तिके स्थानोंकी जातियोंकी संख्या ८४ लाख है । शरीरादिके मोहके कारण यह जीव कर्म बाँधकर पाप-पुण्यके अनुसार अच्छी या बुरी योनिमें जन्म लेता फिरता है। वहाँ जो दुःख उठाये जाते हैं वे कथनमें नहीं आ सकते हैं । हरएक जन्ममें तृष्णाका रोग तो होता ही रहा । इष्टवियोग तो हुआ ही । अनिष्टसंयोग भी हुआ ही । जन्म-मरणका दुःख तो होता ही है । इस जीवने अपने आत्माको न जानकर व सम्यग्दर्शनको न पाकर संसारमें महान कष्ट उठाए हैं । वे चौरासी लाख योनि इस प्रकार हैं–नित्य निगोद ७ लाख, इतर निगोद ७ लाख, पृथ्वीकायिक ७ लाख, जलकायिक ७ लाख, अग्निकायिक ७ लाख, वायुकायिक ७ लाख, प्रत्येक वनस्पति १० लाख, द्वीन्द्रिय २ लाख, त्रीन्द्रिय २ लाख, चतुरिन्द्रिय २ लाख, देव ४ लाख, नारकी ४ लाख, पंचेन्द्रिय तिर्यंच ४ लाख, मनुष्य १४ लाख, कुल ८४ लाख ।

कथं नोद्विजसे मूढ ! दुःखात् संसृतिसंभवात् ।
येन त्वं विषयासक्तो लोभेनास्मिन् वशीकृतः ॥१८६॥

अन्वयार्थ–(मूढ) हे मूर्ख प्राणी ! (संसृतिसंभवात् दुःखात्) संसारके भीतर होनेवाले दुःखोंसे (कथं न उद्विजसे) तुझे वैराग्य क्यों नहीं आता ? (येन) जिससे (त्वं) तू (अस्मिन्) इस संसारमें (विषयासक्तः) विषयोंके भीतर फँसा हुआ (लोभेन वशीकृतः) लोभ द्वारा जीत लिया गया है ।

भावार्थ–यह अन्ध प्राणी विषयोंकी आसक्तिके भीतर इतना फँसा हुआ है कि वह रातदिन पाँचों इन्द्रियोंके भोग्य पदार्थोंका लोभ रखता हुआ उनकी चाहकी दाहमें जला करता है । बारबार संसारमें नाना प्रकारके कष्ट भी पाता है तो भी विषयानुरागको नहीं छोड़ता है । उनकी बुद्धि ऐसी मन्द हो गई है कि वह सच्चे सुखको जो अपने ही आत्माके पास है और जो परमशांतिदाता है उसकी ओर दृष्टिपात ही नहीं करता है, और भवसागरमें गोते लगाता हुआ तड़फड़ाता है, परन्तु भवसमुद्रसे तारनेवाली धर्मरूपी नौकाको नहीं ग्रहण करता है यह बड़े आश्चर्यकी बात है ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चारित्रकी आवश्यकता

यत्त्वयोपार्जितं कर्म भवकोटिषु पुष्कलं ।
तच्छेत्तुं चेन्न शक्तोऽसि गतं ते जन्म निष्फलम् ।।१८७।।

अन्वयार्थ–(त्वया) तूने (भवकोटिषु) करोड़ों भवोंमें (यत्) जो (पुष्कलं) बहुत (कर्म उपार्जितं) कर्म बाँधे हैं, (तत् छेत्तुं) उनके नाश करनेके लिए (चेत् न शक्तः असि) यदि तू सामर्थ्य न प्रकट करेगा (ते जन्म निष्फलं गतं) तो तेरा जन्म निष्फल ही बीत गया ऐसा समझा जायेगा।

भावार्थ–मानव-जन्म और जैनतत्त्वका ज्ञान प्राप्त कर यदि तू संसारके जन्मोंमें दुःख देनेवाले कर्मोंको नाश करनेका उद्यम न करेगा और प्रमादसे अपने अमूल्य समयको विषयभोगोंमें व मोहके प्रपंचमें बिता देगा तो फिर ऐसा अवसर मिलना कठिन है कि जब ऐसा संयम, तप और ध्यान कर सके और जिससे कर्मोंका क्षय हो सके। देव तथा नारकी संयम पाल नहीं सकते, पशुगतिमें मात्र श्रावकके व्रत हैं। साधुके चारित्र पालनका हेतु एक मानव देह है। अतएव प्रमादी न होकर पुरुषार्थ करके भव-भवके बाँधे कर्मोंके नाशके लिए सम्यग्दर्शनसहित चारित्रका आराधन कर, जिससे तू वर्तमानमें भी सुखी रहे और भविष्यमें भी आत्महित कर सके।

अज्ञानी क्षिपयेत्कर्म यज्जन्मशतकोटिभिः ।
तज्ज्ञानी तु [1]त्रिगुप्तात्मा निहन्त्यन्तर्मुहूर्त्ततः ।।१८८।।

अन्वयार्थ–(अज्ञानी) मिथ्यात्वसहित ज्ञानधारी आत्मा (यत् कर्म) जितने कर्मोंको (जन्मशतकोटिभिः) करोडों जन्मोंके द्वारा (क्षिपयेत्) नाश करेगा (तत्) उतने कर्मोंको (ज्ञानी तु) सम्यग्ज्ञानी तो (त्रिगुप्तात्मा) मन वचन कायकी गुप्तिमें ठहरकर (अंतर्मुहूर्ततः) एक अंतर्मुहूर्तमें (निहन्ति) नाश कर ड़ालता है।

भावार्थ–जिसको आत्मतत्त्वका ज्ञान नहीं है ऐसा अज्ञानी सविपाक निर्जरासे अपने समयपर उदय होकर खिरनेवाले कर्मोंको करोड़ों भवोंमें खिराएगा, फल भोग-भोग करके दूर करेगा, उतने कर्मोंकी वर्गणाओंको सम्यग्ज्ञानी अपने आत्मज्ञान, आत्मप्रतीति व वैराग्यभावकी शक्तिसे मनवचनकायको रोक कर ध्यानमें तन्मय होनेपर एक अंतर्मुहूर्तमें क्षय कर ड़ालेगा। ४८ मिनिटके भीतरको अंतर्मुहूर्त कहते हैं। इतनी देर यदि किसी महात्माको धारावाही लगातार आत्मध्यानमें एकाग्रता हो जावे तो उसकी

पाठान्तर–१. त्रिगुप्तो।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ध्यानकी अग्निके प्रतापसे भव-भवके बाँधे हुए कर्म भस्म हो जायेंगे और केवलज्ञान प्रकट हो जायेगा। सम्यक्त्वसहित आत्मानुभव ही सम्यक्चारित्र है जो मोक्षका लाभ करता है।

जीवितेनापि किं तेन कृता न निर्जरा तदा ।
कर्मणां संवरो वापि संसारासारकारिणाम् ॥१८९॥

अन्वयार्थ–(तेन जीवितेन अपि किं) उस मानवके जीवनसे क्या जिसने (तदा) इस मानव-जन्मके अवसर पर (संसारासारकारिणाम् कर्मणां) इस असार संसारमें भ्रमण करानेवाले कर्मोंका (संवरः वा अपि निर्जरा न कृता) न संवर ही किया और न निर्जरा ही की ?

भावार्थ–मानव जीवनकी सफलता आत्माकी शुद्धिसे होती है। यह आत्मा कर्मोंकी संगतिसे दुःखी है तथा जन्ममरणके दुःख उठा रहा है। इन दुःखोंके देनेवाले अपने बाँधे हुए कर्म हैं। कर्मोंके क्षयका उपाय यह मानव-जन्म है। बुद्धिमानको उचित है कि नये कर्मोंका संवर करे और पुराने बंध-प्राप्त कर्मोंकी निर्जरा करे जिससे आत्मा शुद्ध हो जावे। संवर व निर्जराका कारण चारित्रका व तपका आराधन है अतएव साधुके पाँच अहिंसादि व्रतोंको, ५ समितियोंको, तीन गुप्तियोंको, उत्तम क्षमादि दश धर्मोंको, १२ भावनाओंको, २२ परीषहोंके जयको, सामायिकादि चारित्रको व अनशनादि बारह प्रकारके तपको भले प्रकार पालना चाहिए। आत्म-ध्यानका विशेष अभ्यास करना चाहिए और समयको वृथा न खोना चाहिए।

स जातो येन जातेन स्वकृताऽपक्वपाचना ।
कर्मणां पाकघोराणां विबुधेन महात्मनाम् ॥१९०॥

अन्वयार्थ–(सः जातः) उसीका जन्म सफल है (येन विबुधेन जातेन) जिस बुद्धिमानने जन्म लेकर (महात्मनां पाकघोराणां कर्मणां अपक्व पाचना स्वकृता) महान कर्मोंकी, जिनका फल बहुत भयंकर है, पकनेसे पहले ही स्वयं निर्जरा कर ड़ाली हो।

भावार्थ–तपमें यह शक्ति है कि कर्मोंकी स्थिति व अनुभाग घटा देता है जिससे बहुत दीर्घकाल तक उदय होकर अति भयानक फल देनेवाले कर्म क्षणभरमें नाश कर दिये जाते हैं। बुद्धिमान मानवका धर्म है कि इस मानवजन्मको दुर्लभ समझके इससे ऐसा तप और आत्मध्यान करे जिससे पूर्वबद्ध कर्मोंकी निर्जरा हो जावे। जिसने ध्यान द्वारा आत्माको शुद्ध करनेका प्रयत्न किया है उसी मानवने जन्म लेकर अपना सच्चा कल्याण किया है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रोषे रोषं परं कृत्वा मानेऽमानं विधाय च ।
सङ्गे सङ्गं परित्यज्य स्वात्माधीनसुखं कुरु ।।१९१।।

अन्वयार्थ–(**रोषे रोषं परं कृत्वा**) क्रोध पर तीव्र क्रोध करके, (**माने अमानं विधाय च**) और मानमें अमानभाव (विनम्रता) रखकर और (**संगे संगं परित्यज्य**) परिग्रहमें संगभाव–मूर्च्छा त्यागकर (**स्वात्माधीनसुखं कुरु**) अपने आत्माके आधीन जो अतीन्द्रिय सुख है उसे प्राप्त कर।

भावार्थ–आत्मानंदमें लीन होनेसे ही वीतरागता प्रकट होती है, जिसके प्रभावसे नवीन कर्मोंका संवर होता है और पुराने कर्मोंकी निर्जरा होती है । यह आत्मतल्लीनता तब ही हो सकती है जब सब पदार्थोंसे ममता हटाई जावे, बाहिरी परिग्रहको त्यागकर निर्ग्रंथ पद धारण किया जावे तथा अंतरंग परिग्रहको भी पर जानकर त्याग दिया जावे। क्रोध, मान, माया, लोभ ये चारों ही कषाय चारित्रमोहनीय कर्मकी प्रकृतियाँ हैं, जिनके उदयसे क्रोधादि भाव होते हैं। इन भावोंको अपने न जानकर एवं कषायोंका अनुभाग समझकर इनको उन ही कर्मोंके भीतर पटक देना चाहिए, अर्थात् अपने आत्माको कषायोंसे भिन्न अनुभव करना चाहिए। विषय-कषाय रहित होनेपर ही आत्माका निश्चल ध्यान हो सकता है। यही ध्यान स्वाधीन आत्मानन्द प्रदान करता है और सर्व दुःखोंको शांत करता है।

परिग्रहे महाद्वेषो मुक्तौ च रतिरुत्तमा ।
सद्ध्याने चित्तमेकाग्रं रौद्रार्त्ते नैव संस्थितम् ।।१९२।।

अन्वयार्थ–(**परिग्रहे**) परिग्रहसे (**महाद्वेषः**) महान वैराग्य, (**मुक्तौ च उत्तमा रतिः**) मुक्तिकी प्राप्तिमें श्रेष्ठ प्रीति, (**सद्ध्याने एकाग्रं चित्तं**) धर्मध्यानमें चित्तकी एकाग्रता तथा (**रौद्रार्त्ते नैव संस्थितम्**) रौद्रध्यान और आर्त्तध्यानमें चित्तको न जोड़ना इन बातोंका ध्यान ज्ञानीजनोंको रखने योग्य हैं।

भावार्थ–कर्मोंकी निर्जरा करनेके लिए और आत्माको शुद्ध करनेके लिए ज्ञानीको उचित है कि सांसारिक परिग्रहसे ममता छोड़ दे, शुद्धात्माकी प्राप्तिमें बड़ा ही उत्साह रक्खे। फिर उसके साधनके लिए अपने मनसे दुष्ट भावको करनेवाले हिंसानंदी, मृषानंदी, चौर्यानंदी, परिग्रहानंदी रौद्रध्यानको और इष्टवियोगज, अनिष्टसंयोगज, पीड़ाजनित व निदानमय आर्तध्यानको त्याग देवे और चित्तको रोक करके निज आत्माके स्वरूपमें लगाकर ध्यान करे। आत्मध्यानमें ही रत्नत्रयकी एकता होती है, वहीं स्वात्मानुभव जागृत होता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

धर्मस्य संचये यत्नं कर्मणां च परिक्षये ।
साधूनां चेष्टितं चित्तं सर्वपापप्रणाशनम् ॥१९३॥

अन्वयार्थ–(साधूनां) साधुओंका (यत्नं) उद्योग (धर्मस्य संचये) धर्मके संग्रहमें तथा (कर्मणां च परिक्षये) कर्मोंके क्षय करनेमें होता है तथा (चित्तं चेष्टितं सर्वपापप्रणाशनम्) उनका चित्त ऐसे चारित्रके पालनमें होता है जिससे सर्व पापोंका नाश हो जाता है ।

भावार्थ–आत्मशुद्धिके लिए साधुओंको उचित है कि सर्व पापबंध-कारक भावोंसे अपने मनको शुद्ध करें तथा वीतराग भावके भीतर वर्तनेका विशेष यत्न करें, जिससे कर्मोंका क्षय हो जाये । जब आत्मध्यानमें मन न लगे तो शास्त्र-मनन, धर्मोपदेश आदि शुभ कार्योंको करें, जिससे पुण्यका संचय हो, और आत्मा अपने अनुष्ठानसे पीछे न रहे ।

मानस्तंभं दृढं भंक्त्वा लोभाद्रिं च विदार्य वै ।
मायावल्लीं समुत्पाट्य क्रोधशत्रुं निहन्य च ॥१९४॥

यथाख्यातं हितं प्राप्य चारित्रं ध्यानतत्परः ।
कर्मणां प्रक्षयं कृत्वा प्राप्नोति परमं पदम् ॥१९५॥

अन्वयार्थ–(दृढं मानस्तंभं भंक्त्वा) सुदृढ मानके खंभेको तोड़ कर और (लोभाद्रिं च विदार्य वै) लोभरूपी पर्वतका खंड़न करके (मायावल्लीं समुत्पाट्य) मायाचारकी बेलको उखाड़ करके (क्रोधशत्रुं निहन्य च) तथा क्रोधरूपी शत्रुको मार करके (ध्यानतत्परः) ध्यानमें लीन साधु (हितं यथाख्यात चारित्रं प्राप्य) हितकारी यथाख्यात चारित्रको प्राप्त करके (कर्मणां प्रक्षयं कृत्वा) कर्मोंका क्षय करके (परमं पदम् प्राप्नोति) परमपद मोक्षको पा लेते हैं ।

भावार्थ–मोक्षका लाभ तब ही होगा जब कर्मोंका क्षय होगा । कर्मोंका क्षय तब ही होगा जब सर्व मोहका क्षय करके यथाख्यात वीतरागचारित्रको प्राप्त किया जायेगा । वीतराग-चारित्रका प्रकाश तब ही होगा जब क्रोध, मान, माया, लोभ चारों ही कषायोंका क्षय किया जायेगा । कषायोंसे ही कर्मोंका बन्ध होता है अतएव उन्हींके नाशसे आत्माका सच्चा हित होता है । कषायोंके क्षयके लिए आत्मप्रतीतिरूप सम्यग्दर्शनके साथ स्वरूपाचरण चारित्रके ध्यानका अभ्यास करना चाहिए । ध्यानकी सहायताके लिए उपवास, ऊनोदर तप आदिका साधन करना चाहिए ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उत्तम पात्र साधु

सङ्गादिरहिता धीरा रागादिमलवर्जिताः ।
शान्ता दान्तास्तपोभूषा मुक्तिकांक्षणतत्पराः ॥१९६॥

मनोवाक्काययोगेषु प्रणिधानपरायणाः ।
वृत्ताढ्या ध्यानसम्पन्नास्ते पात्रं करुणापराः ॥१९७॥

अन्वयार्थ–(सङ्गादिरहिताः) जो परिग्रह और आरंभसे रहित हैं, (धीराः) परीषहोंके सहनेमें धीर हैं, (रागादिमलवर्जिताः) रागद्वेषादि विभाव भावरूपी मलसे रहित हैं, (शान्ताः) शान्तस्वरूप हैं, (दान्ताः) इन्द्रियोंको दमन करनेवाले हैं, (तपोभूषाः) तप ही जिनका आभूषण है, (मुक्तिकांक्षणतत्पराः) मोक्षप्राप्तिकी भावनामें लीन हैं, (मनोवाक्काय-योगेषु प्रणिधानपरायणाः) मन, वचन, कायरूप योगोंके जीतनेमें उद्यमशील हैं, (वृत्ताढ्या) चारित्रके धारी हैं, (ध्यानसम्पन्नाः) आत्मध्यानके करनेवाले हैं, (करुणापराः) परम दयालु हैं, (ते पात्रं) ऐसे साधु ही उत्तम पात्र हैं।

भावार्थ–उत्तम पात्र साधु ही मुक्तिका लाभ कर सकते हैं। उनको सर्व परिग्रह त्यागकर ममतारहित हो जाना चाहिए, क्षुधा-तृषादि परीषहोंको सहना चाहिए। समभावके अभ्याससे रागद्वेष-भावको जीतना चाहिए। अनशनादि बारह तपका अभ्यास करना चाहिए। पाँचों इन्द्रियोंको अपने वश रखना चाहिए। सदा ही मुक्तिकी ओर दृष्टि रखनी चाहिए। मन वचन कायको वैराग्यरसमें प्रवर्ताना चाहिए, रागवर्द्धक क्रियाओंसे रोकना चाहिए। परमदयालु होकर स्थावर और त्रस सर्व जन्तुओंकी रक्षा करनी चाहिए। सामायिकादि चारित्रको दोषरहित पालना चाहिए और निरन्तर ध्यानका अभ्यास करना चाहिए। जो ऐसा करते हैं वे ही महात्मा एवं उत्तम पात्र साधु हैं।

धृतिभावनया युक्ता शुभभावनयान्विताः ।
तत्त्वार्था हितचेतस्कास्ते पात्रं दातुरुत्तमाः ॥१९८॥

अन्वयार्थ–(धृतिभावनया युक्ता) जो धैर्य व क्षमाकी भावनासे युक्त हैं, (शुभभावनयान्विताः) जिनपूजा, शास्त्रस्वाध्याय, दान, तप आदि शुभकार्योंकी भावनामें तत्पर हैं, (तत्त्वार्था हितचेतस्काः) जिनका मन तत्त्वार्थके मननमें लगा रहता है–निरन्तर जीवादि तत्त्वोंके विचारमें मन संलग्न रहता है, (ते दातुः उत्तमाः पात्रं) वे साधु दातारके लिए उत्तम पात्र हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थ–उत्तम पात्र वे ही हैं जो साधु कष्टोंके पानेपर भी क्रोध न करके क्षमा व धैर्य धारण करते हैं तथा जिनके मनमें कभी अशुभ भावना नहीं होती है। वे सदा परोपकारमें ही भाव रखते हैं तथा जो निज आत्मिक तत्त्वोंको परसे भिन्न सदा भाते रहते हैं ऐसे आत्मज्ञानी साधुको भक्तिपूर्वक दान करना धर्मनिष्ठ दातारोंका दैनिक कर्तव्य है। गृहस्थोंको दान अवश्य करना चाहिए। उत्तम पात्र न मिले तो मध्यम पात्र श्रावकोंको या जघन्य पात्र श्रद्धावान जैनियोंको भक्तिसे दान देना चाहिए। करुणा भावसे हरएक मानव व पशु-प्राणीके कष्टको निवारण करने हेतु अपनी शक्तिप्रमाण त्याग करें। दान बड़ा ही उपकारी है।

धृतिभावनया दुःखं [1]सत्यभावनया [2]भंवम् ।
ज्ञानभावनया कर्म नाशयन्ति न संशयः ॥१९९॥

अन्वयार्थ–ज्ञानी सम्यग्दृष्टि महात्मा (दुःखं) दुःखको या कष्टको या पीडाको (धृतिभावनया) धैर्य व सहनशीलताकी भावनासे, (भवम्) इस जन्म-मरणको (सत्यभावनया) सत्य तत्त्वज्ञानकी भावनासे और (कर्म) कर्मोंको (ज्ञानभावनया) आत्मज्ञानके मननसे (नाशयन्ति) नाश कर ड़ालते हैं (न संशयः) इसमें कोई शंका नहीं है।

भावार्थ–पूर्व कर्मोंके उदयसे आये हुए दुःखको समतासे व धैर्यसे भोग लेना उचित है तब पुरातन कर्म झड़ जायेगा और नवीन कर्मका बंध नहीं होगा। अथवा यदि होगा भी तो अति अल्प होगा। संसारका नाश कर्मोंके नाशसे होगा, कर्मोंका क्षय वीतरागभावसे होगा, वीतरागभाव सत्य जो निश्चय मोक्षमार्ग आत्मानुभवरूप है उसके अभ्याससे होगा। कर्मोंके क्षयमें मुख्य कारण सम्यग्ज्ञानमें उपयुक्त होना है। इसलिए इस बातमें कुछ भी संशय न लाकर आत्मकल्याणार्थियोंको उचित है कि यथार्थ ज्ञानाभ्यास, आत्मप्रतीति तथा चारित्रानुष्ठानसे अपने आत्माका उद्धार करें।

[3]आग्रहो हि शमे येषां विग्रहं कर्मशत्रुभिः ।
विषयेषु निरासङ्गास्ते पात्रं यतिसत्तमाः ॥२००॥

अन्वयार्थ–(येषां) जिनका (आग्रहः शमे हि) यह आग्रह है अथवा यह प्रतिज्ञा है कि हम शांत भावमें रहेंगे (कर्मशत्रुभिः विग्रहं) वे कर्मरूपी शत्रुओंसे युद्ध करते हैं (विषयेषु निरासङ्गाः) और जो इन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्त नहीं हैं किन्तु उनसे विरक्त हैं (ते यतिसत्तमाः पात्रं) वे यतियोंमें मुख्य उत्तम पात्र हैं।

पाठान्तर–१. सत्त्व। २. भयम्। ३. अग्रहो।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थ—उत्तम पात्र साधुओंके मनमें यह दृढ़ प्रतिज्ञा होती है कि हम कभी शांतभावका नाश नहीं करेंगे, अनेक उपसर्गोंके पड़नेपर भी हम क्रोध नहीं करेंगे, क्षमाको नहीं त्यागेंगे। जो आत्माके गुणोंको ही अपना धन समझते हैं इसलिए वे सर्व इन्द्रियोंके विषयोंके पदार्थोंसे वैरागी हैं। सर्व पदार्थोंसे पूर्णतया असंग हैं--रहित हैं तथा जिन साधुओंने इस बातपर कमर कसी है कि वे कर्मरूपी शत्रुओंको अवश्य जीतकर मुक्तिका राज्य प्राप्त करेंगे, ऐसे ही वीर निःस्पृही वीतरागी साधु ही उत्तम पात्र होते हैं।

निःसंगिनोऽपि वृत्ताढ्या निस्नेहाः सुश्रुतिप्रियाः ।
अभूषाऽपि तपोभूषास्ते पात्रं योगिनः सदा ॥२०१॥

अन्वयार्थ--(निःसंगिनः अपि) जो परिग्रहरहित होनेपर भी (वृत्ताढ्याः) चारित्रके धारी हैं (निःस्नेहाः) जगतके पदार्थोंसे स्नेहरहित हैं तो भी (सुश्रुतिप्रियाः) जिनवाणीके प्रेमी हैं (अभूषाऽपि) भूषणरहित हैं तो भी (तपोभूषाः) तपरूपी आभूषणके धारी हैं (ते योगिनः) ऐसे योगी (सदा पात्रं) सदा धर्मके पात्र हैं।

भावार्थ—जैन दिगम्बर साधु उत्तम पात्र हैं, जिन्होंने वस्त्रादि सर्व परिग्रहका त्याग कर दिया है तथापि पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्तिरूप तेरह प्रकार चारित्रके धनी हैं। स्त्री-पुत्र- कुटुम्बादिके स्नेहको छोड चुके हैं तो भी आत्मज्ञानकी बुद्धिके हेतु सच्चे शास्त्रोंके पठन-पाठन-मनन-चिंतवनमें बड़ी ही प्रीति रखते हैं। यद्यपि कोई गहना उनके शरीरपर नहीं है तो भी उपवास आदि बारह तपोंके साधनसे विभूषित हैं। ऐसे ही योगी उत्तम पात्र हैं।

यैर्ममत्वं सदा त्यक्तं स्वकायेऽपि मनीषिभिः ।
ते पात्रं संयतात्मानः सर्वसत्त्वहिते रताः ॥२०२॥

अन्वयार्थ—(येः मनीषिभिः) जिन महात्माओंने (स्वकाये अपि) अपने शरीर परसे भी (ममत्वं) ममता (सदा त्यक्तं) सदाके लिए छोड दी है (संयतात्मानः) ऐसे संयमी पात्र (सर्वसत्त्वहिते रताः) जो सर्व प्राणी मात्रके हितमें लवलीन हैं (ते पात्रं) वे ही पात्र हैं।

भावार्थ—निर्ग्रंथ साधु उत्तम पात्र हैं जो शरीरके रागके भी त्यागी हैं। शरीर संयमका साधक है। इसके सहारेसे तप किया जाता है इसलिए शरीरको जो कुछ रूखा-सूखा भोजन मिल जावे उसे देकर पालते हैं। जो ऐसे दयावान हैं कि एकेन्द्रिय स्थावर वृक्षादिको भी कष्ट नहीं देते हैं, देखकर चलते हैं, उठाते-धरते हैं, सर्व प्राणीमात्रके हितैषी हैं, सर्व जीवोंको

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सत्य धर्मका उपदेश देते हैं तथा पाँचों इन्द्रिय व मनको वशमें रखनेवाले हैं तथा सामायिकादि संयमोंको भले प्रकार पालते हैं, ऐसे ही महात्मा उत्तम पात्र हैं जिनको बड़ी भक्तिसे दान करके गृहस्थको अपना जन्म सफल मानना चाहिए।

परीषहजये शक्तं शक्तं कर्मपरिक्षये।
ज्ञानध्यानतपोभूषं [1]शुद्धाचरणपरायणं ॥२०३॥

प्रशान्तमानसं सौख्यं प्रशान्तकरणं शुभं।
प्रशान्तारिमहामोहं कामक्रोधनिसूदनम् ॥२०४॥

निन्दास्तुतिसमं धीरं शरीरेऽपि च निस्पृहं।
जितेन्द्रियं जितक्रोधं जितलोभमहाभटम् ॥२०५॥

रागद्वेषविनिर्मुक्तं सिद्धिसङ्गमनोत्सुकम्।
ज्ञानाभ्यासरतं नित्यं नित्यं च प्रशमे स्थितम् ॥२०६॥

एवं विधं हि यो दृष्ट्वा स्वगृहाङ्गणमागतम्।
मात्सर्यं कुरुते मोहात् क्रिया तस्य न विद्यते ॥२०७॥

अन्वयार्थ–(परीषहजये शक्तं) जो बाईस परिषहोंके जीतनेमें समर्थ हों, (कर्मपरिक्षये शक्तं) तथा कर्मोंके क्षय करनेके लिए उद्यमशील हों, (ज्ञानध्यानतपोभूषं) जिनका आभूषण ज्ञान, ध्यान, तप हो, (शुद्धाचरणपरायणं) जो शुद्ध चारित्रके पालनेमें लवलीन हों, (प्रशान्तमानसं) जिनका मन शान्त हो, (सौख्यं) जो आनंदमय हों, (प्रशान्तकरणं) जिनकी पाँचों इन्द्रियोंकी इच्छाएँ शांत हों, (शुभं) जो शुभ आचरणोंके कर्त्ता हों, (प्रशांतारिमहामोहं कामक्रोधनिसूदनम्) जो महान मोहरूपी शत्रुको शांत कर चुके हों तथा काम क्रोधादिके नाशक हों (निन्दास्तुतिसमं) जो अपनी निन्दा और स्तुतिमें एकसमान भावके धारी हों (धीरं) क्षमाशील धैर्यवान हों (शरीरेऽपि च निस्पृहं) जो शरीरसे भी विरागी हों (जितेन्द्रियं) जो इन्द्रियोंके विजयी हों (जितक्रोधं) जो क्रोधको जीतनेवाले हों (जितलोभमहाभटं) जिन्होंने लोभरूपी महान योद्धाको जीत लिया हो (रागद्वेषविनिर्मुक्तं) और रागद्वेषसे रहित हों (सिद्धिसङ्गमनोत्सुकम्) सिद्धगतिकी संगतिके पानेके लिए मनमें बड़े उत्सुक हों, (नित्यं ज्ञानाभ्यासरतं) नित्य शास्त्रज्ञानके अभ्यासमें रत हों, (नित्यं च प्रशमे स्थितम्) नित्य ही शांतिमें रमते हों, (एवं विधं स्वगृहाङ्गणमागतं दृष्ट्वा) ऐसे महान योगीको अपने घरके आँगन तक आये हुए देखकर (यः मोहात् मात्सर्यं कुरुते) जो कोई मोहके वशीभूत होकर उनके

पाठान्तर–१. शुद्धाचारपरायणं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

साथ ईर्षा करे, उनका सत्कार न करे, उनको दान न दे (तस्य क्रिया न विद्यते) वह श्रावककी क्रियासे रहित है।

भावार्थ–ऊपर लिखित गुणोंसे विशिष्ट महान वैरागी, निःस्पृही, आत्मज्ञान और ध्यानमें रत निर्ग्रन्थ साधुका जो सन्मान नहीं करता है वह स्वयं मिथ्यादृष्टि है, धर्मक्रियाओंसे शून्य है, वह दानका मार्ग नहीं जानता।

मोक्षमार्ग-पथिक

मायां निरासिकां कृत्वा तृष्णां च परमौजसः ।
रागद्वेषौ समुत्सार्य प्रयाता पदमक्षयम् ॥२०८॥

अन्वयार्थ–(परमौजसः) परम तेजस्वी वीर पुरुष (मायां च तृष्णां निरासिकां कृत्वा) मायाचार और तृष्णाको दूर करके (रागद्वेषौ समुत्सार्य) और रागद्वेषको नाश करके (अक्षयम् पदम् प्रयाताः) अविनाशी मोक्षपदको पहुँचे हैं।

भावार्थ–संसारका मूल कारण तृष्णा है, विषयोंकी लोलुपता है। इसीके हेतु प्राणी मायाचार करते हैं तथा इसी हेतु इष्ट पदार्थोंमें राग और अनिष्ट पदार्थोंमें द्वेष होता है। ये रागद्वेष ही कर्मबंधके कारण हैं। इन्हींके नाशसे कर्मोंका क्षय होता है। सम्यग्दृष्टि धीर-वीर पुरुष साहस करके आत्मध्यानका अभ्यास करते हैं। क्षणकश्रेणीपर आरूढ होकर चार घातियाकर्मोंका नाश करके केवली हो जाते हैं। फिर शेष चार अघातिया कर्मोंका भी क्षयंकर शुद्ध और कृतकृत्य हो अविनाशी स्वात्मस्थितिको प्राप्त कर लेते हैं।

धीराणामपि ते धीरा ये निराकुलचेतसः ।
कर्मशत्रुमहासैन्यं ये जयन्ति तपोबलात् ॥२०९॥

अन्वयार्थ–(ये निराकुलचेतसः) जो आकुलता रहित चित्तको धारण करनेवाले हैं (ये तपोबलात् कर्मशत्रुमहासैन्यं जयंति) तथा जो तपके बलसे कर्मशत्रुओंकी महासेनाको जीत लेते हैं, (ते धीराणाम् अपि धीराः) वे धीर पुरुषोंमें भी बड़े धीर हैं।

भावार्थ–जगतके शत्रुओंको जीतना कोई वीरताकी बात नहीं है। धन्य हैं वे महापुरुष जो निर्ग्रंथ होकर आगमानुसार चारित्र पालकर बाईस परीषहोंको सहते हुए परम क्षमाभावके साथ तप करते हैं और वीतरागता व समतासे अनुराग करते हुए आत्मानंदका भोग करते हैं। उन्हींके कर्मकी निर्जरा होती है और नवीन कर्मोंका संवर होता है। वे मोहको पददलित करते हुए निर्मोहभावमें बढ़ते हुए शुद्ध परमात्मा हो जाते हैं।

५८५६ ए

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

परीषहजये शूराः शूराश्चेन्द्रियनिग्रहे ।
कषायविजये शूरास्ते शूरा गदिता बुधैः ॥२१०॥

अन्वयार्थ–(परीषहजये शूराः) जो क्षुधा, तृषा आदि बाईस परीषहोंके जीतनेमें वीर हैं (च इन्द्रियनिग्रहे शूराः) और जो पाँचों इन्द्रियोंको वश रखनेमें वीर हैं (कषायविजये शूराः) और जो क्रोधादि कषायोंके जीतनेमें योद्धा है (ते शूराः) वे ही सच्चे वीर (बुधैः गदिताः) बुद्धिमानोंके द्वारा कहे गए हैं।

भावार्थ–इस संसारमें संसारी प्राणियोंके मुख्य वैरी विषय तथा कषाय हैं, सहनशीलता रखना बड़ा ही दुर्लभ है। आपत्तियोंके आनेपर आकुलता न होना बड़ा ही साहसका काम है। जो महापुरुष संकटोंके पडनेपर भी वज्रके समान धीरवीर बने रहते हैं तथा उत्तम क्षमादि दशलक्षणरूप धर्मके प्रभावसे या व्यवहार रत्नत्रयके द्वारा निश्चय रत्नत्रयमयी आत्मानुभवका अभ्यास करते हुए विषय-कषायोंको जीत लेते हैं, वे ही सच्चे वीर हैं, पूज्यनीय हैं, वंदनीय हैं।

नादत्तेऽभिनवं कर्म सच्चारित्रनिविष्टधीः ।
पुराणं निर्जयेद्बाढं विशुद्धध्यानसङ्गतः ॥२११॥

अन्वयार्थ–(सच्चारित्रनिविष्टधीः) सम्यक्चारित्रके पालनेमें जिसकी बुद्धि लवलीन हैं वह ज्ञानी (विशुद्धध्यानसङ्गतः) निर्मल वीतराग ध्यानकी संगतिसे (अभिनवं कर्मं न आदत्ते) नवीन कर्मोंका आस्रव नहीं करता है (पुराणं बाढं निर्जयेत्) व पुराने कर्मोंकी अत्यधिक निर्जरा करता है।

भावार्थ–व्यवहार चारित्रके द्वारा स्वरूपाचरणरूप निश्चय चारित्र या आत्मरमणरूप ध्यान ही वास्तवमें मोक्षका मार्ग है। जिस उपायसे नवीन कर्मोंका संवर हो और पूर्वबद्ध कर्मोंकी अत्यधिक निर्जरा हो वही मुक्तिका उपाय है। अतएव तत्त्वज्ञानी जीव पूर्ण समताभावके साथ प्रयत्नपूर्वक आत्मध्यानका दृढतासे अभ्यास करते हुए आत्मशुद्धि करते चले जाते हैं। ऐसे धीर वीर पुरुष धन्य हैं।

संसारावासनिर्वृत्ताः शिवसौख्यसमुत्सुकाः ।
सद्भिस्ते गदिताः प्राज्ञाः शेषाः [1]स्वार्थस्य वञ्चकाः ॥२१२॥

अन्वयार्थ–(संसारावासनिर्वृत्ताः) जो संसारके भ्रमणसे उदास हैं (शिवसौख्यसमुत्सुकाः) तथा कल्याणमय मोक्षके सुखके लिए अत्यन्त उत्साही हैं (ते प्राज्ञाः) वे ही बुद्धिमान पंडित (सद्भिः) साधुओंके द्वारा (गदिताः) कहे गये

पाठान्तर–१. शास्त्रस्य।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हैं। (शेषाः स्वार्थस्य वंचकाः) बाकी सब जीव अपने आत्माके पुरुषार्थको ठगनेवाले हैं।

भावार्थ—वे ही पंडित व विद्वान हैं जो भेदविज्ञान द्वारा यह निर्णय कर चुके हैं कि चार गतिरूप संसारका वास त्यागने योग्य है और मोक्षका निराकुल धाम ग्रहण करने योग्य है। ऐसा निश्चय करके जो संसारसे वैरागी होकर व मोक्षके उत्साही होकर सम्यक्चारित्रका भले प्रकार पालन करते हैं, परन्तु जो केवल शास्त्रोंको जानते हैं, बहुत उपदेश करते हैं परन्तु संसारसे न वैरागी हैं और न ही मोक्षके लिए उद्यमशील हैं वे अपनेको ठगा रहे हैं, जानते हुए भी आत्मकल्याणसे विमुख हैं।

समतां सर्वभूतेषु करोति सुमानसः ।
ममत्वभावनिर्मुक्तो यात्यसौ पदमव्ययम् ॥२१३॥

अन्वयार्थ—(यः सुमानसः) जो शुद्ध मनधारी मानव (ममत्वभावनिर्मुक्तः) ममताभावको छोड़कर (सर्वभूतेषु समतां करोति) सर्व प्राणीभाव पर समताभाव रखता है (असौ) वह (अव्ययम् पदं याति) मोक्षके अविनाशी पदको प्राप्त करता है।

भावार्थ—मोक्षमार्ग आत्मज्ञानपूर्वक वीतरागभावमें है। वीतरागता तभी प्राप्त होगी जब सर्व जगतके पदार्थोंसे ममत्वका त्याग किया जायेगा और जब सर्व जगतके प्राणियोंको निश्चयनयसे एक समान शुद्ध ज्ञाता-दृष्टा अविनाशी वीतरागमय देखा जायेगा, तब किसीसे न राग रहेगा, न किसीसे द्वेष रहेगा। समताभावसहित वर्तनसे आत्मध्यानकी वृद्धि होती है और संवर विशेष होता है तथा पूर्वबद्ध कर्मोंकी विशेष निर्जरा होती है। ऐसा जानकर मुमुक्षुको साम्यभावका अभ्यास करना चाहिए।

इन्द्रियाणां जये शूराः कर्मबन्धे च कातराः ।
तत्त्वार्थो हितचेतस्काः स्वशरीरेऽपि निस्पृहाः ॥२१४॥

परीषहमहारातिवननिर्दलनक्षमाः ।
कषायविजये शूराः स शूर इति कथ्यते ॥२१५॥

अन्वयार्थ—(इन्द्रियाणां जये शूराः) जो पाँचों इन्द्रियोंके जीतनेमें वीर हैं (कर्मबंधे च कातराः) तथा कर्मोंके बाँधनेमें कायर हैं—जो कर्मबंधसे भयभीत है, (तत्त्वार्थो हितचेतस्काः) तत्त्वार्थके मननमें जिनका मन लवलीन है, (स्वशरीरेऽपि निस्पृहाः) जो अपने शरीरसे मोहरहित हैं, (परीषहमहारातिवननिर्दलनक्षमाः) जो बाईस परीषहरूपी शत्रुओंके वनको नाश करनेमें समर्थ हैं, (कषायविजये शूराः) जो कषायोंके जीतनेमें शूर हैं, (स शूर इति कथ्यते) वे ही शूर हैं ऐसा कहा गया है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थ–महाव्रती निर्ग्रंथ आचार्य, उपाध्याय, साधु संसारसे परम वैरागी, जितेन्द्रिय, तत्त्वके अभ्यासी, परीषहोंको जीतनेवाले, वीतरागी होते हुए भी ऐसे उत्तम ध्यानका अभ्यास करते हैं जिससे कर्मोंकी निर्जरा हो जाती है और आत्माकी शक्ति बढ़ती जाती है। वे ही सच्चे वीर योद्धा हैं।

संसारध्वंसिनीं चर्यां ये कुर्वन्ति सदा नराः ।
रागद्वेषहतिं कृत्वा ते यान्ति [1]परमं पदम् ॥२१६॥

अन्वयार्थ–(ये नराः) जो मनुष्य (सदा) हमेशा (संसारध्वंसिनीं चर्यां कुर्वंति) संसारको नाश करनेके लिए आचरण पालते हैं (ते) वे (रागद्वेषहतिं कृत्वा) रागद्वेषको नाश करके (परमं पदम् यान्ति) परम पदको प्राप्त करते हैं।

भावार्थ–सम्यग्दृष्टि निर्ग्रंथ साधु संसारको दुःखोंका सागर समझकर इससे पार होनेके लिए मुनिपदके चारित्रको भले प्रकार पालते हैं। व्यवहारचारित्रके द्वारा निश्चयचारित्रको पालते हुए, स्वात्मानुभवका आनन्द लेते हुए, परम समताभावमें जमते हुए रागद्वेषका क्षय कर देते हैं। वीतरागताका प्रकट होना ही परम पदका लाभ है।

मलैस्तु रहिता धीरा मलदिग्ध्वाङ्गयष्टयः ।
सद्ब्रह्मचारिणो नित्यं ज्ञानाभ्यासं सिषेविरे ॥२१७॥

अन्वयार्थ–(मलैस्तु रहिताः) जो रागादि मलोंसे रहित हो जाते हैं (मलदिग्ध्वांगयष्टयः) परन्तु स्नानादिके त्यागसे शरीरके अंग-उपांग मलसे लिप्त दिखाई देते हैं तथापि (सद्ब्रह्मचारिणः) सच्चे ब्रह्मचारी होते हैं, ऐसे योगी ही (नित्यं ज्ञानाभ्यासं सिषेविरे) सदा ज्ञानका अभ्यास करते रहते हैं।

भावार्थ–निर्ग्रंथ साधु शरीरके मलिनपनेकी कुछ भी परवाह न करते हुए अपने व्यवहार व निश्चय चारित्रको अतिचार रहित पालते हैं, अन्तरङ्गमें स्वरूपकी भावना करते हैं, आत्मध्यानमें लीन होते हैं। जब उपयोग ध्यानमें नहीं लगता है तब शास्त्रोंका मनन करते हैं। निरंतर ज्ञानानन्दका रसपान करना ही उनका ध्येय होता है।

ज्ञानभावनया सिक्ता निभृतेनान्तरात्मनः ।
अप्रमत्तं गुणं प्राप्य लभन्ते हितमात्मनः ॥२१८॥

अन्वयार्थ–(अन्तरात्मनः) सम्यग्दृष्टि महात्मा साधु (ज्ञानभावनया सिक्ता) आत्मज्ञानकी भावनासे सींचे हुए एवं (निभृतेन) दृढता रखते हुए (अप्रमत्तं गुणं

पाठान्तर–१. परमां गतिम्।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्राप्य) अप्रमत्त गुणस्थानोंमें चढकर (आत्मनः हितं) अपने आत्माका हित (लभन्ते) प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—आत्मध्यानका दृढतापूर्वक अभ्यास करनेसे अप्रमत्तविरत नामक सातवें गुणस्थानसे आगे चढकर साधु अपूर्वकरणादि गुणस्थानोंके द्वारा मोहका क्षय करके फिर शेष तीन घातीय कर्मोंका भी क्षय करके केवलज्ञानी हो जाते हैं। सातवेंसे चौदहवें गुणस्थान तकके सब गुणस्थान अप्रमत्त कहलाते हैं; क्योंकि सर्व ही आत्मध्यानासक्त है। समतापूर्वक ध्यान करनेसे ही परमात्मपदकी प्राप्ति होती है।

संसारावासभीरूणां त्यक्तान्तर्बाह्यसंगिनाम्।
विषयेभ्यो निवृत्तानां श्लाघ्यं तेषां हि जीवितम् ॥२१९॥

अन्वयार्थ—(संसारावासभीरूणां) जो महात्मा संसारके भ्रमणसे भयभीत हैं (त्यक्तान्तर्बाह्यसंगिनाम्) तथा रागादि अन्तरङ्ग परिग्रह और क्षेत्र मकानादि बाहरी परिग्रहके त्यागी हैं तथा (विषयेभ्यो निवृत्तानां) पाँचों इन्द्रियोंके विषयोंसे विरक्त हैं (तेषां हि जीवितम् श्लाघ्यं) उन साधुओंका ही जीवन प्रशंसनीय है।

भावार्थ—मोक्षमार्गपर आरूढ होकर सीधे मोक्षघरकी ओर बढ़नेवाले वे ही साधु होते हैं जिनको इस संसारकी चारों गतियोंमें कहीं भी सुन्दरता नहीं भासती है, सर्व ही गतियोंमें मानसिक या शारीरिक कष्टोंकी आकुलता ही दृष्टिगत होती है तथा बालकवत् सरल होकर वस्त्रादि परिग्रहको त्यागकर अन्तरंगमें कषायोंको व कामादि भावोंको जीतते हैं, तथा जो जितेन्द्रिय रहते हैं, आत्मसुखमें सदा मग्न रहते हैं उन्हींका मानवजीवन प्रशंसाके योग्य है; ऐसे महापुरुष ही नरजन्मको सफल करते हैं।

समः शत्रौ च मित्रे च समो मानापमानयोः।
लाभालाभे समो नित्यं लोष्ठकाञ्चनयोस्तथा ॥२२०॥

सम्यक्त्वभावनाशुद्धं ज्ञानसेवापरायणं।
चारित्राचरणासक्तमक्षीणसुखकांक्षिणम् ॥२२१॥

ईदृशं श्रमणं दृष्ट्वा यो न मन्येत दुष्टधीः।
[1]नृजन्मनिष्फलं सारं संहारयति सर्वथा ॥२२२॥

अन्वयार्थ—(शत्रौ च मित्रे समः) जो महात्मा साधु शत्रुमें और मित्रमें समानभाव रखते हैं (च मानापमानयोः समः) और मान और अपमानमें भी

पाठान्तर—१. नृजन्मनः फलं सारं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समभाव रखते हैं, (लाभालाभे समः) लाभ और हानिमें समता रखते हैं (तथा नित्यं लोष्ठकांचनयोः समः) उसी तरह जो सदा कंकड़ और सुवर्णमें समभाव–एकसा भाव रखते हैं (सम्यक्त्व-भावनाशुद्धं) जिनकी भावना सम्यग्दर्शनके कारण शुद्ध रहती है और (ज्ञानसेवापरायणं) जो तत्त्वज्ञानकी सेवामें तत्पर रहते हैं, (चारित्राचरणासक्तं) जो सम्यक्चारित्रके आचरणोंमें आसक्त हैं, (अक्षीणसुख-कांक्षिणम्) अविनाशी आत्मिक सुखकी ही जिनको इच्छा है (ईदृशं श्रमणं दृष्ट्वा) ऐसे सच्चे निर्ग्रंथ श्रमण(साधु)को देखकर (यः दुष्टधीः) जो दुष्टबुद्धि मानव (न मन्यते) भक्ति नहीं करता है उसका (नृजन्मं निष्फलं) मानवजन्म निरर्थक होता है। (सारं सर्वथा संहारयति) इस जन्मसे जो सार फल प्राप्त करना था वह उसको बिलकुल नष्ट कर ड़ालता है।

भावार्थ–सम्यग्दृष्टि आत्मज्ञानी शास्त्रोक्त आचरण करनेवाले जितेन्द्रिय वीतरागी साधु सच्चे मोक्षमार्गी साधु हैं। उनका दर्शन करके जीव तृप्त हो जाते हैं। ऐसे उत्तम पात्रका लाभ हो जावे तो दातार गदगद हो जाते हैं, अपना जन्म सफल मानते हैं, और नवधा भक्ति करके दान देते हैं। जो अज्ञानी, अभिमानी, दुष्ट मानव हैं वे ऐसे आत्मज्ञानी साधुओंको देखकर मुँह फेर लेते हैं, उनको दानादि नहीं देते हैं। वे मानव देव, गुरु, धर्मकी श्रद्धा न रखते हुए बहिरात्मा और मानी कहे जाते हैं। वे मानवजन्मका सार नहीं पाते, और न ही उनका जीवन सफल हो सकता है। इस नरजन्मकी सफलता तो आत्मज्ञान व आत्मानुभवके लाभसे होती है जिससे वर्तमानमें भी सहज सुखशांति मिलती है और भविष्यमें भी सुंदर जीवन प्राप्त होता है।

रागादिवर्द्धनं सङ्गं परित्यज्य दृढव्रताः ।
धीरा निर्मलचेतस्का तपस्यन्ति महाधियः ॥२२३॥

अन्वयार्थ–(रागादिवर्द्धनं संगं) रागद्वेषादिको बढानेवाले परिग्रहका (परित्यज्य) परित्याग करके (महाधियः) महान बुद्धिमान साधु (दृढव्रताः) दृढतासे व्रतोंका पालन करते हैं (निर्मलचेतस्काः) और चित्तको शुद्ध रखते हुए (धीराः) वे धैर्यवान (तपस्यन्ति) तपका आचरण करते हैं।

भावार्थ–कर्मोंकी निर्जरा तपके बिना नहीं हो सकती है। तपस्वियोंके लिए आवश्यक है कि वे अंतरंग व बहिरंग परिग्रहोंका त्याग करे, क्षुधा-तृषा-शीत-उष्णादि बाईस परिषहोंको समताभावसे सहन करें, अपने अहिंसादि पाँच व्रतोंका दृढतासे पालन करें और चित्तमें माया मिथ्या निदान आदि कोई दोष न रक्खें–परम धैर्यके साथ आत्मध्यानका साधन करें।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संसारोद्विग्नचित्तानां निःश्रेयससुखैषिणाम् ।
सर्वसङ्गनिवृत्तानां धन्यं तेषां हि जीवितम् ॥२२४॥

अन्वयार्थ–(संसारोद्विग्नचित्तानां) जिनका चित्त इस दुःखमय संसारसे विरक्त है, (निःश्रेयससुखैषिणाम्) और जो मोक्षके अविनाशी सुखके अभिलाषी हैं (सर्वसंगनिवृत्तानां) तथा जो सर्व अंतरंग बहिरंग संगके त्यागी हैं (तेषां हि जीवितम् धन्यं) ऐसे ही महात्माओंका जीवन धन्य है, प्रशंसनीय है।

भावार्थ–सर्वसे उत्तम पुरुषार्थ मोक्ष है। जिसकी सिद्धि प्राप्त कर लेनेपर प्राणी सर्व दुःखोंसे छूट जाता है और वह आत्मा अपनी स्वाभाविक अमूल्य आत्मसम्पदाको प्राप्त कर लेता है। इसका उपाय वे ही कर सकते हैं जो निर्ग्रंथ साधु सर्व परिग्रहके त्यागी होकर संसारसे तीव्र वैरागी हैं तथा अतीन्द्रिय आनन्दको निरंतर पानेकी भावना रखते हैं। जो महानुभाव इस पुरुषार्थका साधन करते हैं उनका मानवजन्म वास्तवमें प्रशंसाके योग्य है।

सप्तभीस्थानमुक्तानां यत्रास्तमितशायिनाम् ।
त्रिकालयोगयुक्तानां जीवितं सफलं भवेत् ॥२२५॥

अन्वयार्थ–(सप्तभीस्थानमुक्तानां) जो सात प्रकार भयोंके स्थानसे मुक्त हैं (यत्रास्तमितशायिनाम्) जहाँ भी सूर्य अस्त हो जावे वहीं ही विश्राम करनेवाले हैं (त्रिकालयोगयुक्तानां) व तीनों काल योग करनेवाले हैं (जीवितं सफलं भवेत्) उन्हींका यह जीवन सफल होता है।

भावार्थ–आरम्भ-परिग्रहसे विरत जैन श्रमण निर्भय होकर यत्रतत्र विचरण करते हैं। उन्हें कभी किसी प्रकारका कोई भय नहीं सताता। इस लोकमें भय सात बताये गये हैं–१ इहलोक भय–लोक क्या कहेंगे ऐसा भय, २ परलोक भय–परलोकमें कहीं दुःखमय गतिमें न चला जाऊँ, ३ रोग भय–कहीं रोग न आ जावे, ४ अरक्षा भय–मेरा कोई रक्षक नहीं है, क्या करूँ, ५ अगुप्ति भय–मेरी वस्तुएँ कहीं चली न जावे, ६ मरण भय–कहीं मरण न हो जावे, ७ अकस्मात् भय–कहीं कोई आपत्ति न आ जावे। इस प्रकारके भय वीतरागी समभावी साधुके नहीं होते। वे साधु परम दयावान होते हैं, दिवसमें ही प्रासुक जंतुरहित भूमिपर विहार करते हैं। जहाँपर भी सूर्य अस्त होनेको होता है वहीं रात्रिको ठहर जाते हैं और योगाभ्यास करते हैं। सबेरे दोपहर व शामको तो अवश्य ध्यानमें मग्न रहते हैं। इस प्रकार चारित्रका अनुष्ठान करनेवाले साधुओंका ही जीवन सफल है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आर्त्तरौद्रपरित्यागाद् धर्मशुक्लसमाश्रयात् ।
जीवः प्राप्नोति निर्वाणमनन्तसुखमच्युतं ।।२२६।।

अन्वयार्थ–(आर्त्तरौद्रपरित्यागात्) आर्त्त और रौद्रध्यानका त्याग करनेसे, (धर्मशुक्लसमाश्रयात्) धर्मध्यान, शुक्लध्यानका आश्रय करनेसे (जीवः) यह जीव (अनंतसुखं) अनन्तसुखसे पूर्ण (अच्युतं) और अविनाशी (निर्वाणं) स्वात्मस्थितिरूप मोक्षपदको (प्राप्नोति) प्राप्त कर लेता है।

भावार्थ–इस लोकमें परिणामोंकी स्थिरताकी अपेक्षासे ध्यान चार प्रकारका है। आर्त-रौद्रध्यान संसारके कारण हैं जबकि धर्म ध्यान और शुक्लध्यान मोक्षके कारण हैं। आर्तध्यानके चार प्रकार हैं। १. इष्ट-वियोगज–सभी पुत्रादि इष्ट पदार्थोंके वियोगसे होनेवाला। २ अनिष्ट-संयोगज–कंटकादि अनिष्ट वस्तुसे होनेवाला। ३ पीडाजनित–रोग, पीडासे होनेवाला। ४ निदानज–आगामी भोगोंकी इच्छासे होनेवाला। यह चार प्रकारका दुष्टभावरूप आर्तध्यान होता है।

१ हिंसानन्दी–जीवोंकी हिंसामें आनंद माननेवाला। २ मृषानंदी–असत्यमें आनन्द माननेवाला। ३ चौर्यानंदी–चोरीमें आनन्द माननेवाला। ४ परिग्रहानंदी–परिग्रह-संचयमें आनन्द माननेवाला। ये चार प्रकारके दुष्ट भाव एवं रौद्रध्यान हैं। मुख्यरूपसे रौद्रध्यान नरकगतिका व आर्तध्यान तिर्यंचगतिका बंध करता है।

चार प्रकारका धर्मध्यान हैं–१ आज्ञाविचय–जिनेन्द्रकी आज्ञानुसार जीवादि तत्त्वोंका विचार करना, २ अपायविचय–अपने और दूसरोंके रागादि भावोंका एवं कर्मोंका नाश कैसे हो यह विचार करना, ३ विपाकविचय–कर्मोंके शुभ व अशुभ फलका विचार कर समभाव रखना। ४ संस्थानविचय–लोकके आकार, स्वरूप या आत्माके स्वरूपका विचार करना। यह ध्यान चौथे अविरत सम्यग्दर्शन गुणस्थानसे लेकर अप्रमत्तविरत सातवें गुणस्थान तक होता है।

चार प्रकारका शुक्लध्यान है–१ पृथक्त्ववितर्क-वीचार–जहाँ अबुद्धि-पूर्वक योगसे अन्य योग, शब्दसे अन्य शब्द, ध्येय पदार्थसे अन्य ध्येय पर पलटना हो सके। २ एकत्ववितर्क अवीचार–जहाँ एक ही योग द्वारा एक ही शब्द द्वारा एक ही ध्येय पर जमा जावे। ३ सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति–जहाँ काययोगका सूक्ष्म हलनचलन रह जावे। ४ व्युपरतक्रियानिवृत्ति–जहाँ सर्व योगोंका निरोध हो जाये। आठवें गुणस्थानसे बारहवेंके प्रारंभ तक पहला

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शुक्लध्यान रहता है, बारहवेंमें दूसरा होता है, तेरहवेंके अंतमें तीसरा और चौदहवें गुणस्थानमें चौथा शुक्लध्यान होकर यह जीव सिद्ध हो जाता है।

आत्मानं विनयाभ्यासे विषयेषु पराङ्मुखः ।
साधयेत् स्वहितं प्राज्ञो ज्ञानाभ्यासरतो यतिः ॥२२७॥

अन्वयार्थ–(प्राज्ञः यतिः) बुद्धिमान भेदविज्ञानी यति **(विषयेषु पराङ्मुखः)** पाँचों इन्द्रियोंके विषयोंसे विमुख होता हुआ, **(ज्ञानाभ्यासरतः)** तत्त्वज्ञानके अभ्यासमें दत्तचित्त रहता हुआ **(आत्मानं विनयाभ्यासे)** और अपनेको चारित्रके अभ्यासमें लगाये रखता हुआ **(स्वहितं साधयेत्)** आत्माके हितका साधन करता है।

भावार्थ–आत्मोन्नतिके पथपर साधु तब ही चल सकता है जब वह अपने चित्तको इन्द्रियोंके विषयोंसे विरक्त रहने व निरंतर तत्त्वज्ञान और आत्मज्ञानका अभ्यास करे। इसीलिए जिनागमका मनन करनेमें अपने समयको लगाये रहे तथा जिनोक्त चारित्रके साधनमें क्षणमात्र भी प्रमादी न हो।

यथा सङ्गपरित्यागस्तथा कर्मविमोचनम् ।
यथा च कर्मणां छेदस्तथाऽऽसन्नं परं पदम् ॥२२८॥

अन्वयार्थ–(यथासङ्गपरित्यागः) जैसे-जैसे परिग्रहका ममत्व छोड़ा जाता है **(तथा कर्मविमोचनम्)** वैसे-वैसे कर्मोंकी निर्जरा होती जाती है और **(यथा च कर्मणां छेदः)** जैसे-जैसे कर्मोंका क्षय होता है **(तथा परं पदम् आसन्नं)** वैसे-वैसे परमपद अर्थात् मोक्ष समीप आता जाता है।

भावार्थ–यद्यपि बुद्धिपूर्वक चौदह प्रकारके अन्तरंग और दस प्रकारके बहिरंग परिग्रहका त्याग साधुपद धारते हुए किया जाता है तथापि जब तक कषायोंका उदय है तब तक परिग्रहका पूर्ण त्याग नहीं है। आत्मध्यानकी अग्नि बढ़नेसे जैसे-जैसे गुणस्थान चढ़ता है तथा 'जितनी उपशमित कषाया, तितनों वहाँ त्याग बताया'। जैसे-जैसे कषाय मंद होती जाती है, वीतरागता स्वयमेव और बढ़ती जाती है। जितनी अधिक वीतरागता बढती जाती है उतनी ही अधिक कर्मोंकी निर्जरा होती है। जितनी जिनती अधिक कर्मोंकी निर्जरा होती है, आस्रवका निरोध भी उतना-उतना अधिक होता है और मोक्षपद उतना ही निकट आता जाता है।

यत्परित्यज्य गन्तव्यं तत् स्वकीयं कथं भवेत् ।
इत्यालोच्य शरीरेऽपि [1]विद्वान् तां च परित्यजेत् ॥२२९॥

अन्वयार्थ–(यत् परित्यज्य) जिस शरीरको छोड़कर **(गन्तव्यं)** जाना पड़ेगा

पाठान्तर–१. विद्वानाशां।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(तत् स्वकीयं कथं भवेत्) वह शरीर अपना कैसे हो सकता है (इति आलोच्य) ऐसा विचार कर (विद्वान्) भेदविज्ञानी पंड़ित (शरीरे अपि) शरीरसे भी (तां च परित्यजेत्) उस ममत्वभावको छोड़ देते हैं।

भावार्थ–धन, धान्य, वस्त्रादि तो शरीरसे बिलकुल जुदे हैं, इनका त्याग कर देना तो संभव है, शरीरका त्याग तो संभव नहीं है, क्योंकि यह संयमका साधक है। ऐसा है तो भी साधुगण शरीरमें ममता नहीं रखते हैं, संयमका साधक जानकर केवल उसकी रक्षा करते हैं। उनको यह निश्चय है कि शरीर पर है, आयुकर्मके आधीन है, आयुक्षयसे शरीरका अवश्य क्षय हो जायेगा। तब वे प्रवीण साधु इस क्षणिक शरीरसे मोह नहीं करते हैं किंतु इसके द्वारा आत्मध्यानका अभ्यास करते हैं।

नूनं नात्मा प्रियस्तेषां ये रताः सङ्गसंग्रहे।
समासीनाः प्रकृतिस्थाः स्वीकर्तुं नैव शक्यते ।।२३०।।

अन्वयार्थ–(ये संगसंग्रहे रताः) जो परिग्रहके संचय करनेमें रत हैं, (समासीनाः) सुखसे बैठनेवाले हैं, (प्रकृतिस्थाः) कर्मोंके उदयके आधीन हैं, (तेषां नूनं आत्मा प्रियः न) उनको निश्चयसे आत्माकी ओर प्रेम नहीं है। (स्वीकर्तुं नैव शक्यते) ये कभी भी आत्माकी सत्ता स्वीकार नहीं कर सकते हैं।

भावार्थ–संसार और मोक्षमें विपरीतता है। जो संसारप्रेमी हैं वे मोक्षप्रेमी नहीं होते और जो मोक्षप्रेमी हैं वे संसारके रागी नहीं होते। जिनको विषयभोगोंकी भावना रहती है वे नाना प्रकार भोग-सामग्री और धनादिका संचय करते रहते हैं। आलस्य प्रमादसे बैठे रहते हैं। कर्मोंके उदयके अनुकूल वर्तते रहते हैं। वे मोही जीव एक तो आत्माकी बात ही नहीं सुनते हैं, यदि सुनते हैं तो धारणामें उसे नहीं लाते। अनंतानुबन्धी कषायके उदयसे उनका आत्माकी ओर प्रेम उदित नहीं होता।

ममत्व और परिग्रहत्यागसे लाभ

शरीरमात्रसङ्गेन भवेदारम्भवर्धनम्।
तदशाश्वतमत्राणं तस्मिन् विद्वान् रतिं त्यजेत् ।।२३१।।

अन्वयार्थ–(शरीरमात्रसङ्गेन) स्त्री, पुत्र, मित्र, धनादिका और परिग्रह न होते हुए भी शरीर मात्रके परिग्रहसे (आरम्भवर्धनम् भवेत्) शरीरके लिए आरम्भकी वृद्धि हो सकती है। (तत् अशाश्वतं) यह शरीर अनित्य है (अत्राणं) अशरण है इसलिए (विद्वान्) विद्वान पुरुष (तस्मिन् रतिं त्यजेत्) इस शरीरमेंसे आसक्ति छोड़ देते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थ–शरीरकी आसक्ति–मूर्छा बुरी चीज है। यदि शरीरमें मोह हो तो इसके लिए भोग्य वस्तुओंके संग्रहका प्रबन्ध करना पड़ता है और परिग्रहका सम्बन्ध बढ़ जाता है। ज्ञानी यह भले प्रकार जानते हैं कि यह शरीर एक दिन छूट जायेगा तब कोई इसे रख नहीं सकता। मंत्र, यंत्र, औषधि, देव, दानव, मित्रादि कोई भी शरीरको विनाशसे बचा नहीं सकते। ऐसा समझकर ज्ञानीजन इससे प्रीति तोड़ देते हैं, चाकरके समान इसे पालकर इससे संयमका साधन कर लेते हैं।

सङ्गात् सञ्जायते गृद्धिर्गृद्धौ वाञ्छति सञ्चयम्।
सञ्चयाद्वर्धते लोभो लोभाद्दुःखपरम्परा ॥२३२॥

अन्वयार्थ–(संगात् गृद्धिः संजायते) परिग्रहकी मूर्छा होनेसे विषयोंकी लोलुपता पैदा होती है, (गृद्धौ संचयं वांछति) लोलुपता होनेसे धनादि परिग्रहके एकत्र होनेकी इच्छा करता है, (संचयात् लोभः वर्धते) और उस धनादिके संचय करनेसे लोभ बढ़ता जाता है तथा उस (लोभात् दुःखपरम्परा) लोभसे दुःखोंकी संतति बढ़ती जाती है।

भावार्थ–जिसके भीतर शरीरादिसे ममता होगी उसे भीतर इन्द्रियभोगोंकी गृद्धता पैदा हो जायेगी, तब यह अवश्य धनादि सामग्रीको इकट्ठा करेगा। जितना-जितना धन बढ़ेगा उतना-उतना लोभ बढ़ेगा कि यह धन कम न हो किन्तु बढ़ता जावे। लोभके बढ़नेसे अन्यायमें प्रवृत्ति होगी, अन्यायसे तीव्र पापबंध होगा, पापके फलसे दुःख होगा, नीच गति प्राप्त होगी। वहाँ भी अशुभ भावोंके कारण पापबंध होगा। पुनः दुःखमय अवस्था प्राप्त होगी और लोभकी मंदता होना अतिशय कठिन हो जायेगा।

ममत्वाज्जायते लोभो लोभाद्रागश्च जायते।
रागाच्च जायते द्वेषो द्वेषाद्दुःखपरम्परा ॥२३३॥

अन्वयार्थ–(ममत्वात्) परपदार्थोंके ममताभावसे (लोभो जायते) लोभ पैदा होता है (लोभात् रागः च जायते) तथा लोभसे राग पैदा होता है, (रागात् च द्वेषः जायते) रागसे द्वेष उत्पन्न होता है। (द्वेषात् दुःखपरम्परा) द्वेषसे दुःखकी संतति चल पडती है।

भावार्थ–शरीर, कुटुम्ब तथा भोग-सामग्रीमें ममताभाव होनेसे उनके बने रहनेका और उनके लिए धनादिकी प्राप्तिका लोभ होता है। लोभके कारण जिन-जिन पदार्थोंके संयोगसे स्वार्थकी सिद्धि होती है, उनके प्रति राग होता है, रागके कारण जो उन पदार्थोंके विरोधी हैं उनसे द्वेष हो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जाता है। रागद्वेषसे कर्मोंका बन्ध होता है, कर्मोंके उदयसे दुःखके कारणोंकी और शरीरादिकी प्राप्ति होती है, फिर ममताभावसे लोभ होता है इस प्रकार संसारमें दुःखोंकी परिपाटी चला करती है। अतएव परिग्रहका होना संसारवर्द्धक है।

निर्ममत्वं परं तत्त्वं निर्ममत्वं परं सुखम् ।
निर्ममत्वं परं बीजं मोक्षस्य कथितं बुधैः ॥२३४॥

अन्वयार्थ–(निमेमत्वं परं तत्त्वं) ममता रहित होना परम तत्त्व है, **(निर्ममत्वं परं सुखं)** ममतारहित होना परमसुख है, **(निर्ममत्वं मोक्षस्य परं बीजं)** ममतारहित भाव मोक्षका श्रेष्ठ बीज है **(बुधैः कथितं)** ऐसा बुद्धिमानोंने कहा है।

भावार्थ–जिसने सर्व परपदार्थोंसे ममता छोड़ दी है, इन्द्र, धरणेन्द्र, चक्रवर्ती आदिके भोग जिसे आकुलताकारक त्यागने योग्य भासते हैं, वह महात्मा मात्र एक अपने आत्मामें व उसकी मुक्तिमें ही प्रेमी हो जाता है। अतएव वह सर्व ममत्वसे रहित होकर परमात्म-तत्त्वका भले प्रकार अनुभव कर सकता है। इस स्वात्मानुभवसे वह अतीन्द्रिय उत्तम सुखको भोगता है, यही मोक्षका सच्चा उपाय है। जब जगतकी चंचल वस्तुओंसे वैराग्य होगा तब ही निज आत्मिक आनन्दका अनुराग होगा। सुखका क़ारण एक निर्ममत्वभाव ही है। निर्मोही जीव ही मोक्षको प्राप्त कर सकता है।

निर्ममत्वे सदा सौख्यं संसारस्थितिभेदनं[1] ।
जायते परमोत्कृष्टमात्मनः संस्थिते सति ॥२३५॥

अन्वयार्थ–(निर्ममत्वे आत्मनः संस्थिते सति) सर्व परपदार्थोंसे ममता छोड़कर अपने आत्मामें स्थितिको प्राप्त कर लेनेपर **(संसारस्थितिभेदनं)** संसारकी स्थितिको भेदनेवाला **(परमोत्कृष्टं सौख्यं)** परमोत्कृष्ट सुख **(सदा जायते)** सदा अनुभवमें आता है।

भावार्थ–जिसके भीतर ठहरना है, जिसका स्वाद लेना है, जिसमें सच्चा आनन्द है वह स्वयं आत्मा ही है। यह उपयोग जब तक आत्मासे बाहर रमण करता रहता है तब तक अपने आत्माका स्वाद नहीं आ सकता है। जब उपयोगको सर्व अनात्माओंसे और सर्व पर आत्माओंसे–अरहंत सिद्धसे भी हटाकर–अपने ही आत्माके शुद्ध स्वभावमें श्रद्धापूर्वक जोड़ा जाता है, तन्मय किया जाता है–एकाग्र किया जाता है तब ही स्वात्मानुभव होता है और परमानंदका स्वाद आता है। यह परमानंद ही

पाठान्तर–१. ...च्छेदनम् ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वह शस्त्र है जो संसारके भ्रमण करानेवाले कर्मोंका क्षय कर देता है। वास्तवमें मोक्षका मार्ग स्वात्मानन्दमय है। जो रागद्वेष मोहका त्याग करेगा वह अवश्य ही मोक्षमार्गको पाकर सन्तुष्ट होगा। आत्माकी वृत्ति जब साम्यभावको प्राप्त हो जाती है तब परपदार्थकी रुचि नहीं होती, स्वात्मानुभवमें ही उसे आनन्द आता है। अतः उसी स्वानुभवरूप परम-सुधारसका पानकर सन्तुष्ट हो जाता है।

धनकी असारता

अर्थो मूलमनर्थानामर्थो निर्वृतिनाशनम् ।
कषायोत्पादकश्चार्थो दुःखानां च विधायकः ॥२३६॥

अन्वयार्थ–(अर्थः अनर्थानां मूलं) यह धन अनर्थोंका मूल है (अर्थः निर्वृतिनाशनम्) और यह धन निर्वृतिका–मोक्षका नाशक है, (अर्थः च कषायोत्पादकः) और यह धन ही लोभादि कषायोंका उत्पादक है (दुःखानां च विधायकः) तथा दुःखोंका विधायक है, लानेवाला है।

भावार्थ–लक्ष्मीके त्याग बिना ममत्वका त्याग नहीं हो सकता है। लक्ष्मी होनेसे ही विषय-सामग्रीको एकत्र किया जा सकता है व उसके बढानेकी चिन्ता और कम न होनेकी चिन्ता सताती है। लक्ष्मीके लोभसे अनेक अन्याय हो जाते हैं, असत्य बोलकर ठगा जाता है, चोरी कर ली जाती है। लक्ष्मीका ममत्व न हटेगा तब तक निश्चल आत्मसमाधि प्राप्त न होगी। निश्चल समाधिके बिना मोक्षके बाधक कर्मोंका नाश नहीं हो सकता है। अतएव धन मोक्षमें अंतराय करता है। अर्थके निमित्तसे लोभ और मान होता है। मायाचार भी धनके लिए किया जाता है। जो बाधक होता है उसपर क्रोध भी आ जाता है। धनके कारण यहाँ भी उपार्जन, रक्षण व व्ययकी आकुलता होती है। रागद्वेषसे तीव्र कर्मोंका बंध होता है। कर्मोंके उदयसे संसारमें दुःखोंकी परम्परा चलती है।

प्राप्तोज्झितानि वित्तानि त्वया सर्वाणि संसृतौ ।
पुनस्तेषु रतिः कष्टं भुक्तवान्त इवौदने ॥२३७॥

अन्वयार्थ–(त्वया) तूने (संसृतौ) इस संसारमें (सर्वाणि वित्तानि) सर्व प्रकारके धनको (प्राप्तोज्झितानि) प्राप्त करके वारंवार छोडा है (भुक्तवान्त ओदने इव) खाए हुए चावलको वमन किये हुएके समान (तेषु) उन्हीं सम्पत्तियोंमें (पुनः रतिः) फिर आसक्ति करता है यह (कष्टं) बड़े दुःखकी बात है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थ–संसारकी धन-सम्पदा वारंवार इस प्राणीने पायी है। संसारके भोग वारंवार भोगे हैं। ये सर्व भोग-सम्पदा, खाकर वमन किये हुए भातके समान फिर भोगने योग्य नहीं हैं। जैसे बुद्धिमान वमन किये हुए भातको नहीं खाता है वैसे ही हमें धन-सम्पत्तिको ग्रहण करना योग्य नहीं है। यह संसारमें फँसानेवाली है।

को वा वित्तं समादाय परलोकं गतः पुमान् ।
येन तृष्णाग्निसंतप्तः कर्म बध्नाति दारुणम् ।।२३८।।

अन्वयार्थ–(**कः वा पुमान्**) कौन ऐसा मानव है जो (**वित्तं समादाय**) धनको साथ लेकर (**परलोकं गतः**) परलोक गया है? (**येनं**) जिस कारणसे (**तृष्णाग्निसंतप्तः**) यह जीव तृष्णाकी आगसे जलता हुआ (**दारुणं कर्म बध्नाति**) तीव्र कर्म बाँधता है।

भावार्थ–अज्ञानी मानव रातदिन धनकी तृष्णामें फँसा हुआ अपनी सर्वशक्ति व अपना सर्व समय धनके कमानेमें ही खर्च करता रहता है–आत्मकल्याण नहीं करता है। उसके लिए आचार्य कहते हैं कि जिस धनके तीव्र लोभमें पड़कर तू न्याय-अन्यायका विचार छोडकर जैसे-तैसे धन कमाकर तीव्र पापकर्म बाँधता है वह धन इस शरीरके साथ रहेगा? परलोकमें किसीके साथ धन नहीं गया है। परलोकमें तो पाप-पुण्य ही साथ जायेगा। इसलिए धनके पीछे पाप बाँधकर परलोकमें कष्ट पाना मूर्खता है। अतएव संतोषपूर्वक न्यायसे धन कमाते हुए आत्महितके लिए पुरुषार्थ अवश्य करना चाहिए। धनके संचयमात्रसे कुछ लाभ न होगा।

संतोषकी महिमा

तृष्णान्धा नैव पश्यन्ति हितं वा यदि वाहितं ।
संतोषाञ्जनमासाद्य पश्यन्ति सुधियो जनाः ।।२३९।।

अन्वयार्थ–(**तृष्णान्धाः**) जो मानव विषयभोगोंकी व धनकी तृष्णासे अन्धे हैं वे (**हितं वा यदि वा अहितं नैव पश्यन्ति**) न तो अपना हित विचारते हैं और न अहितको विचारते हैं। (**सुधियः जनाः**) बुद्धिमान मनुष्य (**संतोषांजनं आसाद्य**) संतोषरूपी अंजन आँखमें लगाकर (**पश्यन्ति**) अपना सच्चा हित देखते रहते हैं।

भावार्थ–मानव वे ही हैं जो अपने आत्महितपर दृष्टिपात करें। बुद्धिमान मानवोंका यह प्रथम कर्त्तव्य होता है कि वे इस बातको जान ले कि मेरे आत्माका हित किसमें है और अहित किसमें हैं? इसलिए वे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

धनको संतोषके साथ कमाते हैं, और अपना समय शास्त्राभ्यास, सत्संगति, तत्त्वविचार, आत्मध्यानके लिए अवश्य निकालते हैं। परन्तु जो धनके ही मोहमें उन्मत्त हैं वे कभी आत्माके हितको विचारते ही नहीं, वृथा जीवन खोकर दुर्गतिके पात्र हो जाते हैं।

सन्तोषसारसद्रत्नं समादाय विचक्षणाः ।
भवन्ति सुखिनो नित्यं मोक्षसन्मार्गवर्तिनः ।।२४०।।

अन्वयार्थ–(विचक्षणाः) बुद्धिमान पुरुष (संतोषसारसद्रत्नं समादाय) संतोषरूपी और साररूप सच्चे रत्नको हृदयमें धारण करके (नित्यं मोक्षसन्मार्ग-वर्तिनः) नित्य मोक्षके सच्चे मार्गपर चलते हुए (सुखिनः भवन्ति) सुखी रहते हैं।

भावार्थ–जो मानव अपने नरजन्मको सफल करना चाहते हैं, वे ही बुद्धिमान हैं, वे रत्नत्रय मार्गपर चलते हुए आत्मध्यानका और श्री जिनेन्द्र-भक्तिका व दान परोपकार तथा श्रावक या मुनिके व्रतोंका अभ्यास करते हैं, विषयभोगोंकी गृद्धताको त्याग देते हैं। परम संतोषरूपी रत्नको धारणकर सदा सुखी रहते हैं। पुण्यकर्मके उदयसे जो भोजनपान मिल जाता है उसमें संतोष करते हुए जीवन बिताते हैं। उनका मुख्य लक्ष्य आत्माकी उन्नतिपर रहता है। गृहस्थावस्थामें भी वे सामायिक, स्वाध्यायादि नित्य कर्मोंमें कभी प्रमाद नहीं करते हैं।

तृष्णानलप्रदीप्तानां सुसौख्यं तु कुतो नृणाम् ।
दुःखमेव सदा तेषां ये रता धनसञ्चये ।।२४१।।

अन्वयार्थ–(तृष्णानलप्रदीप्तानां नृणाम् तु) जो मानव तृष्णारूपी अग्निसे जलते रहते हैं उनको (कुतः सुसौख्यं) किस प्रकार उत्तम सुख प्राप्त हो सकता है? (ये धनसंचये रताः) जो धनके एकत्र करनेमें ही रत रहते हैं (तेषां सदा दुःखं एव) उन्हें सदा दुःख ही भोगना पड़ता है।

भावार्थ–उत्तम सुख आत्माका स्वभाव है, इस सुखको वे ही प्राप्त कर सकते हैं जो सन्तोषी रहते हुए ध्यान-स्वाध्याय व पूजा-पाठके लिए समय निकालते हैं। जो रातदिन धनकी तृष्णामें रत रहते हैं और धर्मका साधन नहीं करते हैं उनको उत्तम सुख तो प्राप्त ही नहीं हो सकता है, इन्द्रियोंके सुखोंको वे कुछ पाते हैं, परन्तु आकुलताको बढ़ा लेते हैं, दुःख उनको अधिक रहता है; क्योंकि तृष्णा बढ़ती जाती है, इच्छानुकूल पदार्थ मिलते नहीं हैं; और जो इष्ट पदार्थ मिलते हैं उनका वियोग हो जाता है तब वे बहुत कष्ट पाते हैं। उनका जीवन निराशाजनक बीतता है। यदि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गृहस्थजन सन्तोषसे जीवन व्यतीत करें और धर्मका साधन करें तो बहुत अधिक मानसिक दुःखोंसे बच सकते हैं, उभय लोककी सिद्धि कर सकते हैं।

सन्तुष्टाः सुखिनो नित्यमसन्तुष्टाः सुदुःखिताः ।
उभयोरन्तरं ज्ञात्वा संतोषे क्रियतां रतिः ॥२४२॥

अन्वयार्थ—(सन्तुष्टाः नित्यं सुखिनः) संतोषी जीव सदा सुखी रहते हैं, (असंतुष्टाः सुदुःखिताः) जब कि असंतोषी जीव दुःखी रहते हैं। (उभयोः अन्तरं ज्ञात्वा) संतोषी तथा असंतोषीका अन्तर जानकर (संतोषे रतिः क्रियतां) संतोषमें प्रीति करनी योग्य है।

भावार्थ—जो संतोषी होते हैं वे कर्मोदयसे प्राप्त इन्द्रियोंके विषयोंको मंद कषायसे भोग लेते हैं और सुखी रहते हैं। जो प्राप्त विषयोंको पसंद नहीं करते हैं किन्तु मनोज्ञ विषयोंकी इच्छा करते हैं वे इच्छानुकूल न पाकर दुःखी रहते हैं। यदि कदाचित् कोई पदार्थ इच्छानुकूल मिल भी जाता है तो उनकी तृष्णा उससे उत्तम पदार्थके प्रति बढ़ जाती है। जब तक वह पदार्थ नहीं मिलता है तब तक दुःखी रहते हैं। यदि वह मिल गया तो और अधिक तृष्णा बढ़ जाती है। इस तरह उनका जीवन तृष्णाकी ज्वालासे जलता हुआ ही बीतता है। वे सांसारिक सुखको भी बहुत अल्प पाते हैं। आत्मिक सुख तो उनको कभी प्राप्त नहीं होता है।

द्रव्याशां दूरतस्त्यक्त्वा सन्तोषं कुरु सन्मते ।
मा पुनर्दीर्घसंसारे पर्यटिष्यसि निश्चितम् ॥२४३॥

अन्वयार्थ—(सन्मते) हे सद्बुद्धि धारक भाई! (द्रव्याशां दूरतः त्यक्त्वा) द्रव्यकी आशाको दूरसे छोडकर (संतोषं कुरु) संतोष मनमें धारण कर, (मां पुनः) नहीं तो (दीर्घसंसारे) इस महान संसारमें (निश्चितम् पर्यटिष्यसि) तू निश्चयसे भ्रमण करेगा।

भावार्थ—जो प्राणी द्रव्यादि बाहरी पदार्थकी तृष्णामें फँसा रहता है वह कदापि मोक्षका तथा मोक्षमार्गका प्रेमी नहीं हो सकता है, अतएव आचार्य कहते हैं कि द्रव्यके संचयकी तृष्णाको छोड़कर सन्तोषपूर्वक धर्मको साधन करते हुए गृहस्थमें रह और धर्मसाधनके लिए समय निकाल कर जीवन बिता। यदि धनकी तृष्णामें फँसकर धर्मके पालनमें प्रमाद किया जायेगा तो उसका फल यही होगा कि इस जीवको अनन्तकाल तक संसारमें भ्रमण करना पड़ेगा। धर्मसाधनके समयको छोड़कर जो पैसा कमानेके लिए समय नियत हो, उसमें न्यायपूर्वक आजीविकाका साधन करे, अधिक या

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कम जो कुछ भी प्राप्त हो उसमें सन्तोष रक्खे। दान-धर्ममें द्रव्यको लगाकर सफल करे।

ईश्वरो नाम सन्तोषी यो न प्रार्थयते परम् ।
प्रार्थनां महतामत्र परं दारिद्र्यकारणम् ।।२४४।।

अन्वयार्थ–(यः संतोषी) जो संतोषी प्राणी **(परं न प्रार्थयते)** दूसरेसे याचना नहीं करता है **(ईश्वरः)** वही श्रेष्ठ पुरुष है, क्योंकि **(अत्र)** इस लोकमें **(महतां प्रार्थनां)** बड़े लोगोंसे याचना करना **(परं दारिद्र्यकारणम्)** घोर दारिद्र्यका कारण है।

भावार्थ–पुरुषको उचित है कि न्यायपूर्वक आजीविका करके जो कुछ कम या अधिक मिले उसीमें सन्तोष रक्खे। बहुत सादगीसे रहे, किसीसे पैसेकी याचना न करे। जो याचना करेगा वह दीन हो जायेगा। उसकी हीन वृत्ति होनेसे वह तीव्र लोभी बन जायेगा और उसका मन आजीविकामें नहीं लगेगा। तब वह कमा नहीं सकेगा। याचनासे पैसा मिलेगा तो वह दरिद्री हो जायेगा, तथा बहुत लोभसे पाप बाँधकर परलोकमें भी द्रव्यहीन होगा। अतएव जो याचना करता है वह लघु हो जाता है, जो याचना नहीं करता है वह लघु होनेपर भी बड़ा आदमी है।

हृदयं दह्यतेऽत्यर्थं तृष्णाग्निपरितापितं ।
न शक्यं शमनं कर्तुं विना संतोषवारिणा ।।२४५।।

अन्वयार्थ–(तृष्णाग्निपरितापितं) तृष्णाकी आगसे पीडित **(हृदयं)** मन **(अत्यर्थं दह्यते)** अतिशय करके जला करता है, **(संतोषवारिणा विना)** संतोषरूपी जलके बिना **(शमनं कर्तुं न शक्यं)** उस जलनका शमन नहीं किया जा सकता।

भावार्थ–धनादि सामग्री मिलनेपर भी असंतोषीका मन कभी तृप्त नहीं हो पाता, किन्तु अधिक-अधिक तृष्णाके तापसे जला करता हैं। जब तक संतोषरूपी जलका सिंचन न किया जावे तब तक तृष्णाकी आग बुझ नहीं सकती है। अतएव जीवनको सुखी करना हो तो संतोषामृतका पान करके अपना धर्म, अर्थ, काम पुरुषार्थ साधन करे, आलसी न बने।

यैः [1]संतोषामृतं पीतं निर्ममत्वेन वासितं ।
त्यक्तं तैर्मानसं दुःखं दुर्जनेनेव सौहृदं ।।२४६।।

अन्वयार्थ–(यैः) जिन्होंने **(निर्ममत्वेन वासितं)** ममतारहित भावसे **(संतोषामृतं पीतं)** संतोषरूपी अमृतका पान किया है **(तैः)** उन्होंने **(मानसं दुःखं**

पाठान्तर–१. सन्तोषोदकं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

त्यक्तं) सर्व मानसिक दुःखका त्याग कर दिया है (दुर्जनेन इव सौहृदं) जैसे दुर्जनके साथ मित्रता छूट जाती है।

भावार्थ–सर्व प्रकारके मानसिक क्लेशका कारण धनादि पदार्थोंकी तृष्णा है। जिन्होंने तृष्णा छोड़कर संतोष धारण कर लिया है उन्होंने सर्व दुःखोंका अंत कर दिया है। वे थोड़ा धन पाने पर भी सुखी हैं। धनकी हानिमें भी घबड़ाते नहीं हैं। वे पाप-पुण्यके आधीन लक्ष्मीका न होना व होना मानते हैं, अतएव सदा सुखी रहते हैं। जैसे दुर्जनके साथ मित्रता छूट जाती है ऐसे ही सर्व दुःख छूट जाते हैं।

यैः संतोषामृतं पीतं तृष्णातृट्प्रणाशनं ।
तैश्च निर्वाणसौख्यस्य कारणं समुपार्जितम् ॥२४७॥

अन्वयार्थ–(यैः) जिन्होंने (तुष्णातृट्प्रणाशनं) तृष्णाकी प्यासको बुझानेवाले (संतोषामृतं) संतोषरूपी अमृतको (पीतं) पिया है (तैः च) उन्होंने ही (निर्वाण-सौख्यस्य) निर्वाण सुखके (कारणं) कारणको (समुपार्जितम्) प्राप्त कर लिया है।

भावार्थ–परिग्रहकी तृष्णा लोभको बढ़ानेवाली है। लोभसे मान, माया, क्रोध भी आ जाते हैं। जिसने परिग्रहको त्यागा उसने तृष्णाको त्यागा। उसीके भावोंमें सच्चा निर्ग्रंथभाव रहेगा, उसीके पास संतोषामृत भरा मिलेगा, वही सदा उस अमृतका पान करेगा। जो तृष्णाके विजयी परम संतोषी साधु हैं वे भोजनपानके लाभमें व अलाभमें समभाव रखते हैं। वे ही रत्नत्रय-धर्मके साधनके प्रेमी होकर मोक्षमार्गपर चलकर उसे प्राप्त कर सकते हैं।

[1]संतोषं लोभनाशाय धृतिं च सुखशान्तये ।
ज्ञानं च तपसां वृद्धौ धारयन्ति दिगम्बराः ॥२४८॥

अन्वयार्थ–(दिगम्बराः) परिग्रहत्यागी निर्ग्रंथ दिगम्बर मुनि (लोभनाशाय संतोषं) लोभके नाशके लिए सन्तोषको, (सुखशांतये धृतिं) सुख-शांतिके लिए धैर्यको और (तपसां वृद्धौ ज्ञानं च) तपकी वृद्धिके लिए ज्ञानको (धारयंति) धारण करते हैं।

भावार्थ–मोक्षका मार्ग पूर्ण रीतिसे दिगम्बर मुनि ही धारण कर सकते हैं। वे लोभ कषायको आत्माका शत्रु जानकर सन्तोषसे उसको जीतते हैं। जो आहार मिल जाता है उसमें संतुष्ट रहते हैं, रसास्वादकी चाह नहीं रखते हैं। जब परीषहोंको धैर्यसे सहन कर निज आत्मस्वरूपमें स्थिरता

पाठान्तर–१. संतोषो।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रखी जायेगी तब ही सुख शांति मिलेगी। इसलिए वे धैर्य रखते हैं। तपकी वृद्धि ज्ञानके द्वारा होती है। जितना शास्त्रोंका अधिक ज्ञान होगा उतना ही अधिक् इच्छा-निरोधरूप तप हो सकेगा। इसलिए साधुजन परमागमका अभ्यास सदा करते रहते हैं।

ध्यानका साधन

ज्ञानदर्शनसम्पन्न आत्मा चैको ध्रुवो मम ।
शेषा भावाश्च मे बाह्या सर्वे संयोगलक्षणाः ॥२४९॥

अन्वयार्थ–साधुजन ध्यानके समय ऐसा विचारते हैं कि (मम आत्मा) मेरा आत्मा (एकः च) एक अकेला ही है, (ध्रुवः) अविनाशी है, (ज्ञानदर्शनसम्पन्नः) ज्ञानदर्शन स्वरूप है, (च शेषा भावाः) मेरे शुद्धात्माके भावको छोडकर अन्य जितने भी रागादि भाव हैं (सर्वे संयोगलक्षणाः) वे सर्व पुद्गलके संयोगसे होते हैं अतएव (मे बाह्याः) मेरे आत्मासे बाहर हैं।

भावार्थ–ज्ञानीको तत्त्वका मनन करते हुए निश्चयनयसे अपने आत्मद्रव्यका जो स्वभाव है उसे ही बारबार विचारना चाहिए। यह आत्म-द्रव्य अविनाशी है, एकरूप है, ज्ञातादृष्टा परम वीतराग और आनन्दमयी सिद्ध भगवानके समान है। चार गति सम्बन्धी सर्व पर्याय तथा सर्व राग-द्वेषादि विभाव भाव आठ कर्मोंके संयोगोंसे जीवमें होते हैं, शुद्ध जीवमें नहीं पाये जाते हैं। अतएव वे सब मेरे नहीं हैं। न आठ कर्म ही मेरे हैं, न रागादि भावकर्म मेरे हैं, न शरीरादि नोकर्म मेरे हैं। मैं इनसे भिन्न स्वतन्त्र चैतन्य आत्मद्रव्य हूँ; और राग-कषायादि जो विभाव हैं, वे परके निमित्तसे आत्मामें होते हैं, किन्तु आत्माके नहीं हैं, औपाधिक भाव हैं।

संयोगमूलजीवेन प्राप्ता दुःखपरम्परा ।
तस्मात् संयोगसम्बन्धं त्रिविधेन परित्यजेत् ॥२५०॥

अन्वयार्थ–ध्यानके समय योगी विचार करता है कि (संयोगमूल- जीवेन) अनादिकालसे पुद्गलके संयोगसे (दुःखपरम्परा प्राप्ता) मैंने दुःखोंको प्राप्त किया है (तस्मात्) इसलिए (त्रिविधेन) मन वचन काय तीनोंसे (संयोगसम्बन्धं परित्यजेत्) इस पुद्गलका संयोग छोड़ देना चाहिए।

भावार्थ–योगी पुरुष सर्व गुणस्थान, मार्गणास्थान आदि सांसारिक अवस्थाओंको कर्मोदयजनित जानकर उनसे बिलकुल ममता छोड़ देता है। एक अपने आत्माके द्रव्य-गुण-पर्यायको अपना मानकर ग्रहण कर लेता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पुद्गलके संयोगसे ही जीवने कष्ट उठाये हैं। इसलिए स्वातंत्र्यप्रेमी सर्व परसे नाता तोड़ देता है।

ये हि जीवादयो भावाः सर्वज्ञैर्भाषिताः पुरा।
अन्यथा च क्रियास्तेषां चिंताऽत्र हि निरर्थकाः ॥२५१॥

अन्वयार्थ–(ये हि जीवादयः भावाः) जो जीवादि तत्त्व (पुरा) पूर्वकालमें (सर्वज्ञैः भाषिताः) सर्वज्ञों द्वारा कहे गये हैं (तेषां अन्यथा क्रियाः) उससे अन्य प्रकारकी क्रिया हो (चिंताऽत्र हि निरर्थका) इस प्रकारकी चिन्ता यहाँ व्यर्थ ही है।

भावार्थ–सर्वज्ञोंने जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल इन छः द्रव्योंको और सात तत्त्वोंको सत्‌रूप अनादि-अनन्त बताया है। इसका जो मूल स्वभाव है वह कभी अन्य रूप नहीं हो सकता। सर्व द्रव्य अपने-अपने स्वभावमें ही रहे हुए शोभाको पाते हैं। अन्य प्रकार किसी द्रव्यका होना, विचारना व्यर्थ है। जीव कभी पुद्गल नहीं हो सकता, पुद्गल कभी जीव नहीं हो सकता, अतः बुद्धिमानको उचित है कि अपने मूल आत्मद्रव्यके स्वभावको ही अपना माने, पुद्गलकी किसी भी परिणतिको अपना न माने। बन्ध-मोक्षकी व्यवस्था भी सर्वज्ञकथित सत्य है।

यथा च कुरुते जन्तुर्ममत्वं विपरीतधीः।
तथा हि बन्धमायाति कर्मणस्तु समन्ततः ॥२५२॥

अन्वयार्थ–(विपरीतधीः जन्तुः) विपरीत बुद्धिधारी मानव (यथा च ममत्वं कुरुते) जैसे-जैसे परपदार्थमें ममता करता है (तथा हि तु समन्ततः कर्मणः बंधं आयाति) वैसे-वैसे यह सर्व ओरसे कर्मके बंधको प्राप्त होता है।

भावार्थ–कर्मोंके बंधका कारण परमें ममत्व है, रागद्वेष है। मिथ्यादृष्टि अज्ञानी परमें ममता करता हुआ कर्मोंसे बँध जाता है। इसलिए सम्यग्दृष्टि ज्ञानी सर्वसे ममत्व छोडकर एक अपने आत्मद्रव्यसे ही रति करते हैं, आत्मानन्दमें मगन रहते हैं। अतएव वे कर्मोंकी निर्जरा करते हुए मोक्षकी ओर बढ़े जा रहे हैं।

अज्ञानावृत्तचित्तानां रागद्वेषरतात्मनाम्।
आरम्भेषु प्रवृत्तानां हितं तत्र न भीतवत् ॥२५३॥

अन्वयार्थ–(अज्ञानावृत्तचित्तानां) जिनका मन अज्ञानसे ढका हुआ है, (रागद्वेषरतात्मनाम्) जो रागद्वेष भावोंमें रत हैं, (आरम्भेषु प्रवृत्तानां) जो संसारके आरम्भ करनेमें लग रहे हैं, (हितं तत्र न भीतवत्) वहाँ उनका हित नहीं हो सकता है। जैसे कायरका हित नहीं हो सकता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थ–कायर या डरपोक मानव युद्धमें सफलता नहीं पा सकता है। इसी तरह जो आत्माका हित तो करना चाहे परन्तु आत्महितके साधनोंमें अपनेको न लगावे, किन्तु उसके विरुद्ध वर्तन करे तो उसका हित कैसे हो सकता है ? शास्त्रज्ञानका अभाव, गृहारम्भमें आसक्ति, रागद्वेषमें तल्लीनता यही कारण संसारके बढ़ानेवाले हैं। जो मोक्षका साधन करना चाहे उन्हें इन कारणोंसे बचना चाहिए।

परिग्रहपरिष्वङ्गाद्रागद्वेषश्च जायते।
रागद्वेषौ महाबन्धः कर्मणां भवकारणम् ॥२५४॥

अन्वयार्थ–(परिग्रहपरिष्वंगात्) परिग्रहोंको स्वीकार करनेसे (रागद्वेषः च जायते) राग और द्वेष उत्पन्न होते ही हैं, (रागद्वेषौ कर्मणां महाबन्धः) राग-द्वेष ही कर्मोंके महान बंधके कारण है और (भवकारणम्) इन्हींसे संसार बढ़ता है।

भावार्थ–रागद्वेषको त्याग करके वीतरागभावमें रमण करनेसे आत्माका सच्चा हित हो सकता है। अतएव मोक्षकी जिसके भावना है उसको राग-द्वेषके उत्पन्न होनेके कारण धनधान्यादि परिग्रहोंका भी त्याग कर देना चाहिए, तब ही बन्ध न होकर पूर्वबद्ध कर्मोंकी निर्जरा होगी। परिग्रह ध्यानकी सिद्धिमें बाधक है।

[1]सर्वसङ्गान् पिशुन कृत्वा ध्यानाग्निनाहुतिं क्षिपेत्।
कर्माणि समिधश्चैव योगोऽयं सुमहाफलम् ॥२५५॥

अन्वयार्थ–(ध्यानाग्निना) ध्यानरूपी अग्निके द्वारा (कर्माणि समिधः च एव) कर्मोंको यज्ञमें होमनेकी लकडी मानकर जलावे और (सर्वसङ्गान् पिशुन कृत्वा आहुतिं क्षिपेत्) सर्व अंतरङ्ग बहिरङ्ग परिग्रहोंको तिरस्करणीय मानकर उनकी आहुति डाले, (अयं योगः सुमहाफलं) यह योगाभ्यासका यज्ञ महा फलदायी है।

भावार्थ–पशुयज्ञ जब हिंसाकारी पाप-बंधकारक है तब परिग्रहरूपी शत्रुओंको होमनेका यज्ञ मोक्षका साधक है। ज्ञानीको उचित है कि आत्मध्यानकी अग्नि जलावे, उससे कर्मोंके ईंधनको जलावे तथा उसीमें परिग्रहकी आहुति देवे। इस यज्ञसे आत्मा शुद्ध हो जाता है। परिग्रहकी ममता छोडे बिना आत्मज्ञ नहीं हो सकता है।

राजसूयसहस्राणि अश्वमेधशतानि च।
अनन्तभागतुल्यानि न स्युस्तेन कदाचन ॥२५६॥

अन्वयार्थ–(राजसूयसहस्राणि) हजारों राजसूय यज्ञ किये जावें (अश्वमेध-

पाठान्तर–१. सर्वसङ्गात् पसूनकृत्वा।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शतानि च) व सैंकडों अश्वमेध यज्ञ किये जावें, (तेन अनन्त-भागतुल्यानि कदाचन न स्युः) तो भी उनका फल उस ऊपर लिखित आत्मयज्ञके अनन्तवें भागके बराबर भी कभी नहीं हो सकता है।

भावार्थ—कोई-कोई राजा लोग राज्याभिषेकके समय मीमांसक मतके अनुसार राजसूय यज्ञ करते थे व कभी-कभी अश्वमेध यज्ञ करते थे जिसमें घोड़ोंकी बलि दी जाती थी। इन यज्ञोंके करनेसे पुण्य नहीं होता किन्तु हिंसाके कारण पापबंध ही होता है। जो कोई ऐसे यज्ञोंके करनेसे सुख माने, उसके लिए आचार्य कहते हैं कि हजारों ऐसे यज्ञोंका फल बहुत तुच्छ है, पापबन्धका कारण है, उससे अनन्तगुणा उत्तम फल आत्मयज्ञमें है, जिसमें आत्मध्यानकी अग्नि द्वारा कर्मोंको और रागद्वेषको जलाया जाता है।

ध्यानी जीवकी अङ्गनाएँ

सा प्रज्ञा या शमे याति विनियोगपराहिता ।
शेषा च निर्दया प्रज्ञा कर्मोपार्जनकारिणी ॥२५७॥

अन्वयार्थ—(सा प्रज्ञा शमे याति) वही विवेकबुद्धि शांतिकी ओर ले जाती है (या हिता विनियोगपरा) जो वैराग्यके भीतर तत्पर है, (शेषा च प्रज्ञा कर्मोपार्जन-कारिणी निर्दया) उसके सिवाय जो बुद्धि रागद्वेषमें लवलीन है वह कर्मोंका बन्ध करानेवाली है और निर्दयी है, आत्माकी दयासे शून्य है।

भावार्थ—आत्मा और अनात्माके विवेकको प्रज्ञा कहते हैं। ऐसी प्रज्ञाको पाकर जो कोई अनात्मासे विरक्त होकर अपनी आत्मसाधनामें लवलीन रहता है उसीकी प्रज्ञा मोक्षकी साधक है। जो आत्मा व अनात्माका भेद पाकरके भी निश्चयनयका एकान्त पकड़ ले कि आत्मा तो सदा अबंधक ही है, न इसके पापका बन्ध है न पुण्यका बन्ध है, पुद्‌गलकी करणीसे इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। ऐसा एकान्त पकड़कर स्वच्छन्दी हो जावे, आचरणभ्रष्ट हो जावे, विषयभोगोंमें रत हो जावे तो वह रागद्वेषोंके वर्तनसे पापका ही बंध करेगा। बंधरहित वही होगा जो विवेक होनेपर परपदार्थोंसे वैराग्यभाव रखकर निजात्माका ध्यान करेगा।

प्रज्ञाङ्गना सदा सेव्या पुरुषेण सुखावहा ।
हेयोपादेयतत्त्वज्ञा याऽरता सर्वकर्मणि ॥२५८॥

अन्वयार्थ—(पुरुषेण) पुरुषको उचित है कि (प्रज्ञाङ्गना सदा सेव्या) प्रज्ञारूपी स्त्रीकी सदा सेवा करे (या) जो (सुखावहा) सुख देनेवाली है, (हेयोपादेयतत्त्वज्ञा)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

त्यागने योग्य व ग्रहण करने योग्य तत्त्वको जाननेवाली है, और (सर्वकर्मणि याऽरता) जो सर्व मन, वचन, कायके कार्योंमें रत नहीं है।

भावार्थ–ध्यानीके लिए प्रज्ञाकी बहुत बड़ी आवश्यकता है। प्रज्ञा भेदविज्ञानको कहते है। भेदविज्ञानसे ही आत्मा सर्व पुद्‌गल, धर्म, अधर्म, काल, आकाशसे और अन्य आत्माओंसे तथा द्रव्यकर्म ज्ञानावरणादि, भावकर्म रागद्वेषादि व नोकर्म शरीरादिसे भिन्न अनुभवमें आता है। जब ध्यानके भीतर चावल और छिलका अलग अलग दीखता है तब ही छिलकेसे चावलको अलग किया जा सकता है। इसीके प्रतापसे अपने शुद्धात्माका भिन्न ज्ञान होकर उसकी रुचि होती है। जब शुद्धात्माकी रुचि हो जाती है तब उपयोग मन, वचन, कायकी क्रियाओंमें रत न होकर अपने आत्माके शुद्ध स्वभावमें ही रत होता है, जिससे परमानन्दका लाभ होता है।

दयाङ्गना सदा सेव्या सर्वकामफलप्रदा।
सेवितासौ करोत्याशु मानसं [1]करुणात्मनम्॥२५९॥

अन्वयार्थ–(सर्वकामफलप्रदा) सर्वकामनाओंके फलको देनेवाली (दयांगना) दयारूपी स्त्रीकी (सदा सेव्या) सदा सेवा करनी चाहिए। (असौ) यह दया (सेविता) सेवन की हुई (आशु) शीघ्र ही (मानसं करुणात्मनम् करोति) मनको दयाभावसे पूर्ण कर देती है।

भावार्थ–ज्ञानी पुरुषको ध्यानके लिए दया नामकी स्त्रीका सेवन करना चाहिए जिससे सर्व जीवोंको उसके द्वारा कष्ट न पहुँचे, प्रत्युत सर्वकी रक्षाका यत्न हो सके। दयावान प्राणी किसीका बुरा नहीं विचारता है। चित्त कोमल रहता है तब ध्यान सिद्ध होता है। दयाभावसे पुण्यबंध भी होता है, जिससे साताकारी पदार्थ प्राप्त होते हैं।

मैत्र्यंगना सदोपास्या हृदयानन्दकारिणी।
या विधत्ते कृतोपास्तिश्चित्त विद्वेषवर्जितं॥२६०॥

अन्वयार्थ–(हृदयानन्दकारिणी) मनको आनंद देनेवाली (मैत्र्यंगना) मैत्रीरूपी स्त्रीकी (सदा उपास्या) सदा सेवा करनी चाहिए (या) जो (कृतोपास्तिः) उपासना किये जाने पर (विद्वेषवर्जितं चित्तं विधत्ते) द्वेषरहित चित्त बना देती है।

भावार्थ–ध्यानीकी तीसरी स्त्री मैत्री है। सर्व जीवोंपर मैत्रीभाव रखनेसे द्वेषभाव मिट जाता है, मनमें आनन्द रहता है, कोमलभाव हो जाता है, महान पुण्यमयी बंध होता है।

पाठान्तर–१. करुणात्मकम्।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सर्वसत्त्वे दयां मैत्रीं यः करोति सुमानसः ।
जयत्यसावरीन् सर्वान् बाह्याभ्यन्तरसंस्थितान् ॥२६१॥

अन्वयार्थ–(यः सुमानसः) जो सुन्दर मनका धारक (सर्वसत्त्वे) सब प्राणियोंमें (दयां मैत्रीं करोति) दया व मैत्रीभाव करता है (असौ) वह (बाह्याभ्यन्तर-संस्थितान्) बाहरी और भीतरी रहनेवाले (सर्वान् अरीन्) सर्व शत्रुओंको (जयति) जीत लेता है।

भावार्थ–इस जीवके बाह्य शत्रु अन्य मानव हो सकते हैं परन्तु अन्तरङ्ग शत्रु क्रोध, मान, माया, लोभादि विभाव हैं। इन दोनोंके जीतनेका उपाय दया और मैत्रीभाव है। जो दयाभाव और मैत्रीभावके धारी होते हैं वे शत्रुओंको भी वशमें कर लेते हैं तथा उनके कषाय मन्द रहती है, वे धर्म-साधन कर कषायोंको उत्पन्न करनेवाले कर्मोंको जला सकते हैं।

शमं नयन्ति भूतानि ये शक्ता देशनाविधौ ।
कालादिलब्धियुक्तस्य प्रत्यहं तस्य निर्जरा ॥२६२॥

अन्वयार्थ–(ये देशनाविधौ शक्ताः) जो धर्मोपदेश देनेमें लीन हैं (भूतानि शमं नयन्ति) वे प्राणियोंको शांतभावमें ले आते हैं (कालादिलब्धियुक्तस्य तस्य) उस महात्माके काललब्धिके होने पर जब स्वात्मानुभवकी अधिक जागृति होती है तब उसके (प्रत्यहं निर्जरा) सदा ही कर्मोंकी निर्जरा होती है।

भावार्थ–जो स्वयं शान्तपरिणामी हैं और दूसरोंको धर्मोपदेश देकर शांतभावमें लानेका उपदेश देते हैं वे मैत्री, दया और प्रज्ञाको रखते हुए जब-जब आत्मध्यानमें मग्न होते हैं तब-तब उनके कर्मोंकी विशेष निर्जरा होती है। कषायोंका शमन ही ध्यानकी सिद्धिका कारण है, ध्यानसे ही कर्म झड़ते हैं।

शमो हि न भवेद्येषां ते नराः पशुसन्निभाः ।
समृद्धा अपि तच्छास्त्रे कामार्थरतिसंगिनः ॥२६३॥

अन्वयार्थ–(येषां न हि शमः भवेत्) जिन मानवोंके भीतर शांत भाव नहीं होता है (ते नराः पशुसन्निभाः) वे मानव पशुओंके समान हैं। (तच्छास्त्रे समृद्धाः अपि) यद्यपि वे शास्त्रोंके ज्ञाता हैं (कामार्थरति-संगिनः) तथापि वे कामभाव और द्रव्यकी आसक्तिमें लगे रहते हैं।

भावार्थ–जब तक कषाय मंद न हो, परिणामोंमें शान्ति न हो, तब तक मानवपनेकी ही शोभा नहीं है। फिर जो शास्त्रोंके ज्ञाता होकर भी रातदिन पैसा कमानेमें व विषय-भोगोंमें अनुरक्त रहें तो उनका क्या कहना! शांतभावके बिना मानव पशुतुल्य है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चित्रं नरकतिर्यक्षु भ्रमतोऽपि निरंतरं ।
जन्तोः सुविद्यते नैव समो दुरितबंधिनः ॥२६४॥*

अन्वयार्थ–(निरंतरं नरकतिर्यक्षु भ्रमतः अपि) निरन्तर नरक गतिमें और पशुगतिमें भ्रमण करते हुए भी (दुरितबंधिनः) पापोंको बाँधनेवाले (जन्तोः) जीवके (सु समः नैव विद्यते चित्रं) समताभाव नहीं आता है यही आश्चर्य है।

भावार्थ–जो बारबार बहुत दुःख उठाये हैं उन्हें समझकर फिर ऐसा काम नहीं करना चाहिए जो दुःखदायी हो। परन्तु मोहकी बड़ी महिमा है जो मानवको मूढ बना देती है। वह बारबार वही काम करता है जिससे दुःख पाता है। इस जीवने मोहके कारण पाप बाँधकर नरक-पशुगतिमें बहुत दुःख उठाए हैं तो भी यह अपने परिणामोंको वैराग्यवान नहीं बनाता है और समताका सेवन नहीं करता है। यही इसकी बड़ी भूल है।

मनस्याह्लादिनी सेव्या सर्वकालसुखप्रदा ।
उपसेव्या त्वया भद्र ! क्षमा नाम कुलाङ्गना ॥२६५॥

अन्वयार्थ–(भद्र) हे भव्य जीव ! (मनस्य आह्लादिनी) मनको प्रसन्न रखनेवाली (सर्वकालसुखप्रदा) और सर्वकालमें सुख देनेवाली; (सेव्या) सेवने योग्य (क्षमा नाम कुलांगना) क्षमा नामकी कुलवान स्त्रीका (त्वया उपसेव्या) तुझे बारबार सेवन करना चाहिए।

भावार्थ–उत्तम क्षमा, साधु महात्माकी परम प्यारी स्त्री होती है। साधु गाली सुननेपर व कष्ट दिये जानेपर भी क्रोधभाव नहीं करते हैं, क्षमाभाव धारण करते हैं। इससे उनका मन कभी क्लेशित नहीं होता है। सदा ही उनके मनमें सन्तोष तथा सुख रहता है। क्षमाकी वे सदा ही सेवा करते हैं, वे जगतमात्रके प्राणियोंपर क्षमाभाव धारण करते हैं। क्षमा ही वीर पुरुषोंका आभूषण है।

क्षमया क्षीयते कर्मं दुःखदं पूर्व सञ्चितम् ।
चित्तं च जायते शुद्धं विद्वेषभयवर्जितम् ॥२६६॥

अन्वयार्थ–(क्षमया) उत्तम क्षमाके प्रतापसे (पूर्वसंचितं) पूर्वकालमें बाँधा हुआ

---

* श्लोक २६४के पूर्व अन्यत्र निम्न श्लोक है :-
कर्मणां ध्वंसने चित्तं रागं मोहारिनाशने ।
द्वेषं कषायवर्गं च नायोग्यो लब्धुमर्हति ॥
भावार्थ–चित्तका कर्मोंके विध्वंस करनेमें होना, रागका मोहरूपी शत्रुके नाश करनेमें होना और द्वेषभाव कषायसमूहके प्रति होना, ऐसा अयोग्य जीव नहीं कर सकता, अर्थात् पुरुषार्थी–योग्य जीव ही ऐसा कर सकता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(दुःखदं कर्म) दुःखदायी कर्म (क्षीयते) क्षय हो जाता है (चित्तं विद्वेषभयवर्जितम् शुद्धं च जायते) तथा चित्तमेंसे द्वेष या भय निकल जाता है–चित्त शुद्ध हो जाता है।

भावार्थ–जो महात्मा क्रोध नहीं करते हैं उनका सबके साथ मैत्रीभाव होता है, वे सदा शांत रहते हैं। क्रोधके कारण होनेपर भी क्रोध नहीं करते। जब उनका किसीसे वैर नहीं होता है तब उनके भीतरसे द्वेष या भय निकल जाता है। मनमें सदा शुद्धि बनी रहती है। न वे अहंकार करते हैं न ही द्वेष करते हैं।

प्रज्ञा तथा च मैत्री च समता करुणा क्षमा ।
सम्यक्त्वसहिता सेव्या सिद्धिसौख्यसुखप्रदा ॥२६७॥

अन्वयार्थ–ज्ञानीको उचित है कि (सिद्धिसौख्यसुखप्रदा) सिद्धिके अनुपम सुखको देनेवाली इन (प्रज्ञा तथा च मैत्री च समता करुणा क्षमा) प्रज्ञा, मैत्री, समता, दया और क्षमा इन पाँचोंको (सम्यक्त्वसहिता सेव्या) सम्यग्दर्शन सहित सेवन करें।

भावार्थ–जो महात्मा साधु मोक्षसुखको प्राप्त करना चाहें, उनको उचित है कि सम्यग्दर्शनको दृढतासे पालते हुए भेद-विज्ञानसे आत्माको अनात्मासे भिन्न विचारे, प्राणीमात्रपर मैत्रीभाव रक्खे, रागद्वेष टालकर समभावका अभ्यास करे, दुःखी प्राणियों पर करुणाभाव रखते हुए द्वेष करनेवाले और विरोध करनेवालों पर उत्तम क्षमाभाव रक्खे, इन ही सखियोंके सहारे वे मोक्षनगरको जा सकेंगे।

सत्संगति

भयं याहि भवाद् भीमात् प्रीतिं च जिनशासने ।
शोकं पूर्वकृतात्पापाद्यदीच्छेद्धितमात्मनः ॥२६८॥

अन्वयार्थ–(यदि आत्मनः हितं इच्छेत्) हे भव्य जीव ! यदि तू आत्माका हित करना चाहता है तो निम्न काम कर, (भीमात् भवात् भयं याहि) इस भयानक संसारके दुःखोंसे भय कर, (जिनशासने च प्रीतिं) जिनशासनमें प्रेम कर, (पूर्व-कृतात् पापात् शोकं) और पूर्व किये हुए पापका शोक कर।

भावार्थ–आत्माका हित कर्मोंसे छूटकर स्वाधीन होनेमें है। तब उसके लिए इस चतुर्गतिमय संसारमें मेरा पतन न हो ऐसे कार्योंसे भयभीत रहना योग्य है तथा जिनवाणीका पठनपाठन करके धर्मको यथार्थ समझना योग्य है। तथा पूर्वमें किये हुए पापोंका पश्चात्ताप करके आगे उनसे बचनेकी भावना करनी योग्य है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कुसंसर्गः सदा त्याज्यो दोषाणां प्रविधायकः।
सगुणोऽपि जनस्तेन लघुतां याति तत्क्षणात् ॥२६९॥

अन्वयार्थ–(दोषाणां प्रविधायकः) दोषोंकी उत्पन्न करनेवाली (कुसंसर्गः) कुसंगतिको (सदा त्याज्याः) सदा छोडना योग्य है, (तेन) उस कुसंगतिसे (सगुणः अपि जनः) गुणी मानव भी (तत्क्षणात् लघुतां याति) क्षणभरमें हलका हो जाता है।

भावार्थ–परिणामोंकी उच्चता रखनेके लिए धर्मात्मा और ज्ञानी पुरुषोंकी संगति करनी योग्य है। दुराचारी, मिथ्यादृष्टि, व्यसनी, रागी पुरुषोंकी संगतिसे महान सदाचारी व गुणवान पुरुष भी कलंकित हो जाता है। संगतिमें दोषोंकी छाप पड जाती है। अतएव सदा ही संतोंकी संगति वांछनीय है।

सत्सङ्गो हि बुधैः कार्यः सर्वकालसुखप्रदः ।
तेनैव गुरुतां याति गुणहीनोऽपि मानवः ॥२७०॥

अन्वयार्थ–(बुधैः सर्वकालसुखप्रदः सत्संगः हि कार्यः) बुद्धिमानों को सदा सुखदायी सत्संगति ही करना योग्य है, (तेन एव) उसीसे ही (गुणहीनः अपि मानवः गुरुतां याति) गुणरहित पुरुष भी महानपनेको प्राप्त हो जाता है।

भावार्थ–धर्मात्मा, सज्जन, सदाचारी व ज्ञानी मानवोंकी संगति सदा सुख देनेवाली होती है। ऐसी संगतिमें बैठनेसे गुणहीनके अवगुण चले जाते हैं और गुणोंकी प्राप्ति हो जाती है। मोक्षमार्गमें जो चलना चाहे उसके लिए ऐसे देव-गुरु-शास्त्रोंकी संगति रखनी योग्य है जिससे वीतराग विज्ञानरूप महा धर्मकी छाप हृदयपर पड़े।

साधूनां खलसङ्गेन चेष्टितं मलिनं भवेत् ।
सैंहिकेयसमासक्त्या छागानामपि तत् क्षयः ॥२७१॥

अन्वयार्थ–(साधूनां चेष्टितं खलसङ्गेन मलिनं भवेत्) साधुओंका चारित्र दुष्टकी संगतिसे मैला हो जाता है, जैसे (सैंहिकेय समासक्त्या) सिंहके बच्चेकी निकटतासे (छागानां अपि तत् क्षयः) बकरोंका भी नाश हो जाता है।

भावार्थ–साधुओंको सदा साधुओंकी, सज्जनोंकी, धर्मात्माओंकी ही संगति करनी योग्य है। यदि वे दुष्टोंकी, दुराचारियोंकी, विषयलम्पटियोंकी संगति करेंगे तो साधुओंके चारित्रमें कमी आ सकती है। सिंहके बच्चोंके साथ बकरोंका नाश होना स्वाभाविक है।

रागादयो महादोषाः खलास्ते गदिताः बुधैः ।
तेषां समाश्रयस्त्याज्यस्तत्त्वविद्भिः सदा नरैः ॥२७२॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्वयार्थ–(रागादयो महादोषाः ते खलाः बुधैः गदिताः) रागद्वेषादि महान दोष हैं, ये ही दुष्ट हैं ऐसा ज्ञानियोंने कहा है। (तत्त्वविद्भिः नरैः सदा तेषां समाश्रयः त्याज्यः) तब तत्त्वज्ञानियोंको उचित है कि वे उनका संग सदाके लिए छोड़ दें।

भावार्थ–आत्माके ज्ञान, सम्यक्त्व, वीर्य, चारित्र, सुख आदि गुणोंको मलिन करनेवाले रागद्वेषादि कषाय हैं। ये ही महान दुष्ट हैं, वैरी हैं। जितना-जितना इनका प्रसंग किया जाता है आत्मा बंधको प्राप्त होता है। संसारमें भ्रमण करानेवाले ये ही दुष्ट रागद्वेष-मोह हैं। अतएव तत्त्वज्ञानी महात्माओंको कर्मबंधसे बचनेके लिए व सुखशांति पानेके लिए इनकी संगति छोड़कर समताभावकी संगति करनी चाहिए। वीतरागतामें तन्मय रहना योग्य है।

गुण पूज्य होते हैं

गुणाः सुपूजिता लोके गुणाः कल्याणकारकाः ।
गुणहीना हि लोकेऽस्मिन् महान्तोऽपि मलीमसाः ॥२७३॥

अन्वयार्थ–(गुणाः लोके सुपूजिताः) गुण ही लोकमें पूजे जाते हैं, (गुणाः कल्याणकारकाः) गुण ही कल्याणकारी होते हैं, (हि अस्मिन् लोके) निश्चयसे इस लोकमें (महान्तः अपि गुणहीनाः मलीमसाः) महान पुरुष भी यदि गुणहीन हो तो मलिन या नीच माने जाते हैं।

भावार्थ–जगतमें कोई व्यक्ति माननीय नहीं है। व्यक्तिके भीतर यदि गुण हों तो उसकी मान्यता होती है। गुणोंका आदर जगतमें होता है। यदि कोई बड़े कुलमें पैदा हुआ हो, धनवान हो परन्तु गुणरहित हो, विद्याहीन हो, धर्महीन हो तो वह जगतमें माननीय नहीं होता है। अतएव हरएकको गुणोंकी प्राप्ति करनी योग्य है।

सद्गुणैः गुरुतां याति कुलहीनोऽपि मानवः ।
निर्गुणः सुकुलाढ्योऽपि लघुतां याति तत्क्षणात् ॥२७४॥

अन्वयार्थ–(कुलहीनः अपि मानवः) कुलहीन मनुष्य भी क्यों न हो (सद्गुणैः गुरुतां याति) यदि उत्तम गुणोंसे विभूषित हो तो महानपनेको प्राप्त हो जाता है, और (सकुलाढ्यः अपि) यदि कोई ऊँचकुलका धारी हो (निर्गुणः) परन्तु गुणरहित हो तो वह (तत्क्षणात् लघुतां याति) उसी समय हलका माना जाता है।

भावार्थ–नीच कुली भी धर्म, सदाचार, परोपकार आदि गुणोंके कारण जगतमें माननीय हो जाता है जब कि उत्तम कुलवाला भी मानव

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अधर्मसे, असदाचारसे व परको दुःख पहुँचानेसे नीच माना जाता है। अतएव हरएक नीच या ऊँचकुलीको उत्तम गुणोंकी प्राप्तिका यत्न करना योग्य है।

सद्वृत्तः पूज्यते देवैराखंडलपुरःसरैः ।
असद्वृत्तस्तु लोकेस्मिन्निन्द्यतेऽसौ सुतैरपि ॥२७५॥

अन्वयार्थ—(सद्वृत्तः) उत्तम प्रशंसनीय चारित्रका धारी मानव (आखण्डल-पुरःसरैः देवैः) इन्द्रादि देवोंके द्वारा (पूज्यते) मान-सन्मानको पाता है (अस्मिन् लोके) इस लोकमें (असौ असद्वृत्तः) जो कोई असदाचारी है, निन्द्य आचारका पालनेवाला है वह (सुतैः अपि निंद्यते) पुत्रके द्वारा भी निन्दित होता है।

भावार्थ—इन्द्रादिक देव भी उसीकी भक्ति या प्रतिष्ठा करते हैं जो धर्मात्मा है व चारित्रवान है। अधर्मी पापीकी देव भी निन्दा करते हैं। अतएव मानवोंको इस लोकमें प्रशंसापात्र होने और परलोकमें सुख पानेके लिए सदा ही सदाचारी, धर्मात्मा व परोपकारी होना योग्य हैं। मोक्षमार्गीको रत्नत्रयधर्मका साधन बड़े भावसे करना चाहिए।

चारित्रं तु समादाय ये पुनर्भोगमागताः ।
ते साम्राज्यं परित्यज्य दास्यभावं प्रपेदिरे ॥२७६॥

अन्वयार्थ—(ये तु चारित्रं समादाय) जो कोई चारित्रको पाकरके (पुनः भोगम् आगताः) फिर लौटकर भोगोंमें फँस जाते हैं (ते साम्राज्यं परित्यज्य दास्य-भावं प्रपेदिरे) वें चक्रवर्तीके राज्यको छोड़कर मानो दासपनेको प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—चारित्रके पालनेसे इस लोकमें भी यश, पूज्यपना, और सुखका लाभ होता है तथा परलोकमें भी शुभगति या मोक्षकी प्राप्ति होती है। जो कोई गृहस्थ आत्मकल्याणके लिए गृहको छोड़कर साधु हो जावे, फिर भोगोंकी लालसासे साधुपना छोड़कर गृहस्थ बन जावे तो यह ऐसा ही कहलायेगा जैसे कोई चक्रवर्तीपना छोडकर दासपना धारण कर ले। संयमका लाभ बड़े ही पुण्यसे होता है। अतृप्तिकारी भोगोंके पीछे संयमको नष्ट करना बड़ा भारी दोष है।

शीलसंधारिणां पुंसां मनुष्येषु सुरेषु च ।
आत्मा गौरवमायाति परत्रेह च सन्ततम् ॥२७७॥

अन्वयार्थ—(शीलसंधारिणां पुंसा आत्मा) चारित्रको पालनेवाले पुरुषोंका आत्मा (परत्र इह च) परलोकमें तथा इस लोकमें (मनुष्येषु सुरेषु च) मनुष्योंमें तथा देवोंमें (संततं) सदा (गौरवम् आयाति) पूज्यताको प्राप्त होता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थ–जगतमें चारित्र ही पूजने योग्य है। जो चारित्रवान होता है, उसकी प्रतिष्ठा इस लोकमें होती है तथा परलोकमें भी वे शुभगतिको प्राप्त होते हैं, बहुधा देवगतिमें जाते हैं। वहाँ उत्तम देवपद पाते हैं तब बहुतसे देव उनकी प्रतिष्ठा करते हैं। अतएव सदा ही हितकारी जो चारित्र है उसको भले प्रकार पालकर नरजन्मको सफल करना योग्य है। यह नरजन्म चारित्र-हीन बिताया जायेगा तो पुनः मिलना बहुत ही दुर्लभ हो जायेगा।

आपदो हि महाघोराः सत्यसाधनसङ्गतैः ।
निस्तीर्यन्ते महोत्साहैः शीलरक्षणतत्परैः ॥२७८॥

अन्वयार्थ–(सत्यसाधनसंगतैः) जो साधुजन सत्य मार्गका साधन करते हैं, (महोत्साहैः) बड़े भारी उत्साहवान हैं, (शीलरक्षणतत्परैः) चारित्रके रक्षणमें तत्पर हैं वे (महाघोराः आपदः हि निस्तीर्यन्ते) वे महान घोर आपत्तियोंसे भी पार हो जाते हैं।

भावार्थ–जैसे साहसी पुरुष तैरकर नदी पार कर लेता है–महाभयानक जंगलको भी पार कर लेता है, वैसे महासाहसी, चारित्ररक्षामें तत्पर साधु मोक्षमार्गमें बड़े उत्साहसे चलते हैं और घोर आपत्ति, संकट तथा उपसर्ग पड़नेपर उनको शांतिसे सहन करके मोक्षकी सिद्धि कर लेते हैं।

वरं तत्क्षणतो मृत्युः शीलसंयमधारिणाम् ।
न तु सच्छीलभङ्गेन कल्पान्तमपि जीवितम् ॥२७९॥

अन्वयार्थ–(शीलसंयमधारिणाम् तत्क्षणतः मृत्युः वरं) शील संयमके धारी साधुओंका संयम पालते हुए शीघ्र मरना अच्छा है (तु) परन्तु (सच्छीलभंगेन) सम्यक् शीलको भंग करके (कल्पांतम् अपि जीवितं न वरं) कल्पोंकाल तक जीना भी श्रेष्ठ नहीं हैं।

भावार्थ–प्राणोंकी रक्षा संयमके पालनके लिए है अतएव प्राणांतपर्यंत संयमको दृढतासे पालना चाहिए। यदि संयम घातका अवसर हो तो समाधिमरण कर लेना चाहिए। परन्तु संयमको खंडन करके बहुत जीना ठीक नहीं है। यदि बहुत जीए भी परन्तु सदाचार-विहीन बने रहे तो जीनेसे न जीना ही अच्छा है।

धनहीनोऽपि शीलाढ्यः पूज्यः सर्वत्र विष्टपे ।
शीलहीनो धनाढ्योपि न पूज्यः स्वजनेष्वपि ॥२८०॥

अन्वयार्थ–(सर्वत्र विष्टपे) सर्व जगह इस लोकमें (शीलाढ्यः) चारित्रवान पुरुष (धनहीनः अपि) धनहीन भी हो तो भी (पूज्यः) आदरके योग्य है किन्तु

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(शीलहीनः) जो चारित्र रहित (धनाढ्यः अपि) धनवान भी है वह (स्वजने अपि) अपने लोकोंमें भी (पूज्यः न) पूज्यनीय नहीं होता है।

भावार्थ—इस जगतमें गुण ही पूज्य हैं। जो महानुभाव धनहीन हैं परन्तु शीलवान हैं, चारित्रवान हैं, वे जगतमें लोक सन्मानको पाते हैं तथा-जो धनवान तो हैं परन्तु चारित्रविहीन हैं, असदाचारी हैं उनको इस लोकमें कहीं भी आदर नहीं मिलता है। वे यहाँ भी तुच्छ होते हैं तथा परलोकमें भी दुर्गतिको पाते हैं।

[1]वरं शत्रुगृहे भिक्षा याचना शीलधारिणां ।
न तु सच्छीलभङ्गेन साम्राज्यमपि जीवितम् ॥२८१॥

अन्वयार्थ—(शीलधारिणां) चारित्र पालनेवालोंको (शत्रुगृहे) शत्रुके घरमें भी (भिक्षा याचना वरं) भिक्षा लेना अच्छा है (तु) परन्तु (सच्छीलभंगेन) सदाचारको नाश करके (साम्राज्यं अपि जीवितम् न) चक्रवर्ती होकर भी जीना ठीक नहीं है।

भावार्थ—सदाचारी धर्मात्मा साधु यदि शत्रुके घरमें चला जावे और उसको भिक्षाके बदलेमें प्राण देने पड़ें तो भी ठीक है, उसके आत्माका कल्याण है, परन्तु जो चक्रवर्ती भी हो, परन्तु चारित्रहीन हो तो उसका जीवन किसी कामका नहीं है।

प्रयोजन यह है कि हमें अपने चारित्रको उज्ज्वल रखना चाहिए। चारित्र ही आत्माको हितकारी है व जगतमें पूजनीय है।

वरं सदैव दारिद्र्यं शीलैश्वर्यसमन्वितम् ।
न तु शीलविहीनानां विभवाश्चक्रवर्तिनः ॥२८२॥

अन्वयार्थ—(शीलैश्वर्यसमन्वितम्) शील या चारित्ररूप धनसहित (दारिद्र्यं) दरिद्री होना (सदैव वरं) सदा ही अच्छा है (तु) परन्तु (शीलविहीनानां) जो चारित्रसे शून्य हैं (चक्रवर्तिनः विभवाः न) उनकी चक्रवर्तीकी विभूतियाँ भी ठीक नहीं हैं।

भावार्थ—चारित्रको पालते हुए यदि कोई धनरहित है तो भी वह ऐश्वर्यवान है व सदा ही माननीय है, परन्तु चारित्रशून्य हो तो वह निन्दनीय है। अतएव चारित्रको भले प्रकार पालना चाहिए।

धनहीनोऽपि सद्वृत्तो याति निर्वाणनाथतां ।
चक्रवर्त्यप्यसद्वृत्तो याति दुःखपरम्पराम् ॥२८३॥

---

१. शास्त्राकार प्रतिमें यह श्लोक नहीं है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्वयार्थ–(धनहीनः अपि) धनहीन होकर भी मनुष्य यदि (सद्वृत्तः) सदाचारी है, सम्यग्दर्शन सहित चारित्रका पालनेवाला है, तो वह (निर्वाणनाथतां याति) मोक्षको प्राप्त कर लेता है किन्तु (चक्रवर्ती अपि) चक्रवर्ती सम्राट भी हो (असद्वृत्तः) और मिथ्यात्वसहित कुत्सित आचारको पालनेवाला हो तो (दुःख-परंपराम् याति) दुःखोंकी परम्पराको पाता रहता है।

भावार्थ–आत्मप्रतीतिसहित चारित्र ही जीवको यहाँ भी सुखी रखता है व आगे भी सुखी बनाता है। जिसको आत्मानन्दका अनुभव पूजा, जप, तप, स्वाध्याय, सामायिकके द्वारा आता है, वह धनहीन होने पर भी सुख भोगता है। वह शुभगतिमें जाकर सुखी रहता है, परम्परासे वह निर्वाण प्राप्त कर लेता है। परन्तु जो चक्रवर्तीके समान धनवान हो और आचारभ्रष्ट हो, न सम्यग्दृष्टि हो, न आत्मज्ञानी हो, न श्रावक-व्रत पाले, न मुनिव्रत पाले, किन्तु हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील, परिग्रह इन पाँचों पापोंमें प्रवृत्ति करे तो वह वहाँ भी आकुलित रहता है तथा मरकर नरक और पशुगतिमें जाकर भी दुःख उठाता है। उसको बहुतसे दुःखमय जन्म धारण करने पड़ते हैं।

सुखरात्रिर्भवेत्तेषां येषां शीलं सुनिर्मलम् ।
न सच्छीलविहीनानां दिवसोऽपि सुखावहः ॥२८४॥

अन्वयार्थ–(येषां सुनिर्मलं शीलम्) जिनका पवित्र चारित्र है (तेषां सुखरात्रिः भवेत्) उनकी रात्रि सुखसे, निराकुलतासे बीतती है। (सच्छीलविहीनानां) जिनका चारित्र ठीक नहीं है–जो सदाचारी नहीं हैं–उनका (दिवसः अपि सुखावहः न) दिन भी सुखदायी नहीं है।

भावार्थ–चारित्रसे शांति रहती है, चिन्ता नहीं रहती है, संतोष रहता है तब रात्रिको सुखसे निद्रा आती है। परन्तु जिनका चारित्र ठीक नहीं होता है वे द्यूतरमण, शिकार, चोरी, वेश्या, परस्त्रीगमन, मांसाहार, मदिरापान, अन्याय और तीव्र विषयभोगोंकी लालसामें फँसे रहते हैं, उनको न दिनमें चैन न रात्रिमें चैन है, वे आकुलता व चिन्तामें ग्रसित रहते हैं। उन्हें इष्टवियोग, अनिष्टसंयोग, शरीर रोगी होनेकी बड़ी बड़ी चिन्ताएँ सतात्ती हैं। उनका जीवन कष्टमय रहता है। अतएव बुद्धिमान मानवका कर्तव्य है कि वह सदाचारी रहे, पाँच पापोंसे बचे, प्राप्त भोगमें संतोष रखे व धर्म-साधनमें दत्तचित्त रहे।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0. In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

काम-क्रोधादि हानिकारक हैं

देहं दहति कामाग्निस्तत्क्षणं समुदीरितम् ।
वर्द्धमानः समामग्र्यं चिरकालसमार्जितम् ॥२८५॥

अन्वयार्थ—(कामाग्निः) कामभावकी आग (समुदीरितम्) जब उठ खड़ी होती है (तत् क्षणं देहं दहति) तब उठनेके साथ ही शरीरको जलाती है। (वर्द्धमानः) जब वह कामकी अग्नि बढ़ जाती है तब (चिरकालसमार्जितम्) दीर्घकालसे अभ्यासमें लाई हुई (समामग्र्यं) शान्तिको मुख्यतासे जला देती है।

भावार्थ—कामभावकी आग बड़ी ही भयंकर है। जब इसकी ज्वाला प्रगट होती है तब, जैसे मन आकुलित होता है वैसे ही शरीरका रुधिर जलने लगता है। जब वह कामकी चाह तीव्र वेग-रूप हो जाती है तब तो बहुत ही हानि करती है। दीर्घकाल अभ्यास की गई शान्ति शीघ्र ही जाती रहती है। कामकी चाहकी आकुलतासे वह दिन-रात दुःखी रहता है। अतएव जिन निमित्तोंसे कामभाव जागृत हो उन निमित्तोंसे भले प्रकार बचना चाहिए। अग्नि तो वर्तमान शरीरको जलाती है परन्तु कामकी आग प्राणीको भवभवमें जलाती है। वह बड़ी ही भयंकर है।

क्रोधेन वर्धते कर्म दारुणं भववर्धनम् ।
साम्यं च क्षीयते सद्यस्तपसा समुपार्जितम् ॥२८६॥

अन्वयार्थ—(क्रोधेन दारुणं भववर्धनं कर्म वर्धते) क्रोध कषायसे भयानक संसारको बढ़ानेवाला कर्मबंध बढ़ता है (तपसा समुपार्जितम् च साम्यं सद्यः क्षीयते) तथा तप करनेसे जो प्राप्त की हुई समता है वह शीघ्र ही नष्ट हो जाती है।

भावार्थ—क्रोधके समान कोई भयंकर आग नहीं है। परिणाम बड़े ही क्रूर, क्लेशित व हिंसक हो जाते हैं। इसलिए तीव्र चारित्रमोहनीय आदि अशुभ कर्मोंका बन्ध होता है, जिसका फल भवभवमें दुःखदायी होता है। वैरभाव कई जन्मों तक चला जाता है। जिस साधुने चिरकालतक तप करके समताका अभ्यास किया हो उस सर्व साम्यभावके भंड़ारको यह क्रोधकी चिनगारी भस्म कर ड़ालती है, अतएव हरएक साधु या श्रावकका परम धर्म है कि वह क्रोधकी अग्निको कभी भड़कने न दे, उन निमित्तोंसे बचें जिनसे क्रोधकी वृद्धि होती है। शांतभावमें सुस्थित रहनेसे जीवन सदा सुखी रहता है। परलोकमें भी सुखी जीवन प्राप्त होता है। जो क्रोधको जीते वही जिन है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सुदृष्टमनसा पूर्वं यत्कर्मसमुपार्जितम् ।
तस्मिन् फलप्रदेयास्ते कोऽन्येषां क्रोधमुद्वहेत् ॥२८७॥

अन्वयार्थ–(सुदृष्टमनसा) सम्यक्दृष्टिवान मनुष्यके द्वारा (पूर्वं यत् कर्म-समुपार्जितं) पूर्वमें जो कर्म उपार्जन किया गया है (तस्मिन् फलप्रदेयाः ते) उसका फल प्राप्त होनेपर (कः अन्येषां क्रोधं उद्वहेत्) कौन दूसरों पर क्रोध करेगा ?

भावार्थ–जब किसीको कोई कष्ट किसीके द्वारा पहुँचता है व किसीके द्वारा किसीका नुकसान होता है तब उसमें दूसरा तो केवल निमित्तमात्र है, उस कष्ट या हानि होनेका मूल कारण उस जीवका अपना ही अशुभ भावोंसे बाँधा हुआ पापकर्म है। तब ज्ञानी विचारता है कि इसमें मेरा ही अपराध है, ये तो निमित्तकारण मात्र हैं। मुझे इनपर क्रोध नहीं करना चाहिए। भला हुआ कि इनके निमित्तसे मेरा कर्म क्षय हो गया ऐसा विचारकर समभाव रखता है।

[1]विद्यमाने रणे यद्वच्चेतसो जायते धृतिः ।
कर्मणा योध्यमानेन[2] किं विमुक्तिर्न जायते ॥२८८॥

अन्वयार्थ–(रणे विद्यमाने) युद्धक्षेत्रमें रहते हुए (यद्वत्) जिस तरह (चेतसः धृतिः जायते) चित्तको धैर्य रहता ही है (कर्मणा योध्यमानेन) तब कर्मोंसे युद्ध करते हुए (विमुक्तिः किं न जायते) मोक्ष क्यों नहीं होगा ?

भावार्थ–जो साहसी होता है वह विजय प्राप्त कर लेता है। युद्धमें जो ठहरेगा उसे अवश्य धैर्य और साहस रखना ही होगा, नहीं तो वह युद्धक्षेत्रमें ठहर नहीं सकता। इसी तरह जो यह विचार दृढ़तासे करेगा कि मुझे अवश्य कर्मोंको जीतना है तो अवश्य धैर्य और साहसके साथ आत्म-ध्यान करेगा। ध्यानके बलसे कर्मोंको क्षय करके अवश्य मुक्त हो जायेगा।

स्वहितं यः परित्यज्य सयत्नं पापमाहरेत् ।
क्षमां न चेत् करोम्यस्यमत्कृतघ्नो न विद्यते ॥२८९॥

अन्वयार्थ–(यः स्वहितं परित्यज्य) जो अपने आत्मकल्याणको त्यागकर (सयत्नं पापं आहरेत्) यत्नपूर्वक पापको एकत्र करता है (क्षमां चेत् न करोमि) इसको क्षमा मैं नहीं करता हूँ, क्योंकि (अस्यमत्कृतघ्नो न विद्यते) उसके जैसा अन्य कोई कृतघ्नी–उपकारको भूलनेवाला नहीं हैं।

भावार्थ–जो अज्ञानी मानव आत्महितके कार्यको न करता हुआ विषयवासनाके लोभसे चारित्रको छोड़कर भ्रष्ट हो जावे और पापोंको करने

पाठान्तर–१. छिद्यमाने ऋणे। २. शोध्यमानेन।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लग जावे तो वह मानव बड़ा ही कृतघ्नी है; क्योंकि धर्मके प्रतापसे शुभसंयोगको प्राप्त होकर उसी धर्मका तिरस्कार करता है, वह मानव क्षमाका पात्र नहीं।

शत्रुभावस्थितान् यस्तु करोति वशवर्तिनः ।
प्रज्ञाप्रयोगसामर्थ्यात् स शूरः स च पण्डितः ॥२९०॥

अन्वयार्थ–(यः तु) जो कोई (शत्रुभावस्थितान्) रागद्वेषादि शत्रुओंको (वशवर्तिनः करोति) अपने वश कर लेता है (प्रज्ञाप्रयोगसामर्थ्यात्) भेदविज्ञानके अभ्यासकी शक्तिसे, (स शूरः स च पण्डितः) वह वीर है तथा वही पण्डित है।

भावार्थ–भेदविज्ञानकी पैनी छेनीसे रागद्वेषादि आत्माके वैरी जीत लिये जाते हैं। जो महात्मा इन विभावोंपर विजय करता है वही सच्चा वीर है, और वही सच्चा पण्डित है। उसीका जीवन आदर्श एवं सफल है जिसने आत्मानन्दको प्राप्त कर लिया है। अतएव हे भाई! तू भी रागद्वेषादि विभावभावों पर विजय प्राप्त कर, चिद्स्वरूपमें रम, और स्वात्मानन्दका उपभोग कर।

कलह व विवाद नहीं करना

विवादो हि मनुष्याणां धर्मकामार्थनाशकृत् ।
वैरान् बन्धुजनो नापि नित्यं वाहितकर्मणां ॥२९१॥

अन्वयार्थ–(मनुष्याणां विवादो हि) जो मानवोंमें परस्पर विवाद या झगड़ा करना है वह (धर्मकामार्थनाशकृत्) धर्म, अर्थ, काम तीनों पुरुषार्थोंका नाश कर ड़ालता है, क्योंकि (वाहितकर्मणां) कर्मोंके फलको भोगनेवाले मानवोंके (वैरान् बन्धुजनः नापि नित्यं) वैरी व बन्धुजन कोई नित्य नहीं हैं।

भावार्थ–जगतमें झगड़ा करनेसे बहुत हानि उठानी पड़ती है, कलहके कारण शत्रु अनेक हो जाते हैं। जगतमें न बन्धुजन नित्य हैं न शत्रु नित्य है। सभीको अवस्था बदलनी पड़ती है। अतएव ज्ञानीको उचित है कि शांत जीवन बितायें, रागद्वेष न करे, विवाद न करे तब उभय लोकमें सुख होगा।

धन्यास्ते मानवा नित्यं ये सदा क्षमया युताः ।
वञ्चमाना न वै लुब्धा विवादं नैव कुर्वते ॥२९२॥

अन्वयार्थ–(ते मानवा नित्यं धन्याः) वे मानव नित्य ही धन्य हैं, प्रशंसनीय हैं (ये सदा क्षमया युताः) जो सदा क्षमागुणसे पूर्ण होकर (वञ्चमाना न वै लुब्धा)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दूसरोंसे ठगे जाने पर भी आकुलित नहीं होते हैं और (विवादं नैव कुर्वते) किसीके साथ विवाद नहीं करते हैं।

भावार्थ–यहाँपर दिगम्बर जैन साधुओंको लक्ष्यमें लेकर कहा है कि वे साधु सदा ही उत्तम क्षमा गुणको पालते हैं, कभी भी क्रोध करके अपनी आत्माको कलुषित नहीं करते हैं, न किसीके साथ वाद-विवाद करते हैं। यदि कोई उनको ठग लेता है, उनके साथ कपट करता है तो भी वे संत महात्मा क्षमाभावसे अपने कर्मोंका उदय विचार कर सह लेते हैं। वचनोंसे और मनसे कोई विकल्प-विवाद नहीं करते हैं।

वादेन बहवो नष्टा येऽपि द्रव्यमहोत्कटाः ।
वरमर्थपरित्यागो न विवादः खलैः सहः ॥२९३॥

अन्वयार्थ–(वादेन बहवः नष्टाः) परस्पर विवाद उठनेसे बहुत नष्ट हो चुके, (येऽपि द्रव्यमहोत्कटाः) बड़े बड़े धनिक भी नष्ट हो गये, अतः (खलैः सह विवादः न वरं अर्थपरित्यागः) दुष्टोंके साथ झगड़ा करना अच्छा नहीं, किन्तु द्रव्यका त्याग करना पड़े तो वह ठीक है।

भावार्थ–साधुओंको तो सदा समभाव रखना चाहिए, किसीके साथ विवाद न करना चाहिए। गृहस्थोंको भी यह उपदेश है कि किसीके साथ लडाई-झगड़ा न करें। लड़ाईकी आग बढ़नेसे दोनों ओर विनाश होता है। सज्ञनोंके साथ विवाद आ जावे तो शीघ्र निपट जाता है, अधिक हानि नहीं होती है, परन्तु दुर्जनोंके साथ विवाद तो ठीक ही नहीं है। यदि कुछ द्रव्यके त्यागसे झगड़ा निबट जावे तो निबटा लेना चाहिए, अन्यथा भारी हानि उठानी पड़ेगी। इसका अभिप्राय यह नहीं कि दुष्टसे दबकर अपनी हानि उठा लेना। थोड़ी हानिसे, द्रव्यके देनेसे यदि वह मान जावे तो अधिक लड़ाई-झगड़ा न बढ़ाना चाहिए।

अहंकारो हि लोकानां विनाशाय न वृद्धये ।
यथा विनाशकाले स्यात् प्रदीपस्य शिखोज्ज्वला ॥२९४॥

अन्वयार्थ–(अहंकारः) अहंकार या घमण्ड (हि लोकानां विनाशाय) निश्चयसे लोगोंका नाश करनेवाला है, (न वृद्धये) उससे उन्नति नहीं होती है। (यथा विनाशकाले प्रदीपस्य शिखोज्ज्वला स्यात्) जैसे जब दीपक बुझने लगता है तब उसकी लौ बढ़ जाती है।

भावार्थ–गृहस्थोंको उचित है कि धन, अधिकार, कुटुम्ब, राज्य आदिके होनेपर अहंकार या घमण्ड न करे, क्योंकि ये सब पदार्थ नाशवन्त

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हैं। सम्पत्ति होनेपर नम्रता व विनय रखना ही शोभनीय है न कि घमण्ड करना। जो घमण्ड करते हैं और दूसरोंको सताते हैं, तिरस्कार करते हैं, उनको ऐसा पापका बन्ध हो जाता है कि वह इसी जन्ममें उदय आ जाता है और उसके फलसे घमण्डीका पतन हो जाता है। दीपककी लौ बुझते समय बढ़ जाती है। वह अहंकार करके मानो मिट जाती है।

हीनयोनिषु बंभ्रम्य चिरकालमनेकधा।
उच्चगोत्रे सकृत् प्राप्ते कोऽन्यो मानं समुद्वहेत् ॥२९५॥

अन्वयार्थ—(हीनयोनिषु चिरकालं अनेकधा बम्भ्रम्य सकृत् उच्चगोत्रे प्राप्ते) यह जीव नीच योनियोंमें दीर्घकाल तक अनेक तरहसे जब भ्रमण कर चुकता है तब कहीं पुण्यके योगसे एक बार उत्तम योनिमें जन्म प्राप्त करता है। (अन्यः कः मानः समुद्वहेत्) ऐसी दशामें कौन ऐसा है जो अहंकार करे?

भावार्थ—उच्च कुलमें जन्म लेकर धनादिका अभिमान करना वृथा है। क्योंकि इस जीवको नीच कुलोंमें बारबार जन्मना पड़ता है तथा अनेक बार धनहीन होना पड़ता है, तब कहीं बड़े पुण्ययोगसे उच्च कुलमें जन्म होता है या धनवानपना प्राप्त होता है। ऐसे क्षणभंगुर संयोगके होनेपर ज्ञानी जीव अहंकार नहीं करते हैं, प्रत्युत विनयवान व नम्र होकर जगतकी सेवा करते हैं व धर्मसाधन करके आत्मकल्याण करते हैं। मान ही विवादकी जड़ है।

वीतराग-विज्ञानमय मार्ग दुर्लभ है

रागद्वेषौ महाशत्रू मोक्षमार्गमलिम्लुचौ।
ज्ञानध्यानतपोरत्नं हरतः सुचिरार्जितम् ॥२९६॥

अन्वयार्थ—(रागद्वेषौ महाशत्रू) राग और द्वेष महाशत्रु हैं, (मोक्षमार्गम् अलिम्लुचौ) मोक्षके वीतराग विज्ञानमय मार्गको लूटनेवाले हैं, (सुचिरार्जितम् ज्ञानध्यानतपोरत्नं हरतः) ये दीर्घकालसे संचय किये हुए ज्ञान, ध्यान, तपरूपी रत्नको लूट लेते हैं।

भावार्थ—मोक्षमार्गीको रागद्वेष त्यागकर वीतरागभावकी ही शरण ग्रहण करनी चाहिए। आत्माके प्रबल वैरी रागद्वेष हैं। ये ही आत्माकी ज्ञान-ध्यान-तपरूपी सम्पत्तिको हर लेते हैं और इसे दीन, हीन, दरिद्री, पापी, अन्यायी, दुराचारी बना देते हैं, कषायवान कर देते हैं और संसारके भयानक गर्तमें पटक देते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चिरं गतस्य संसारे बहुयोनिसमाकुले ।
प्राप्ता सुदुर्लभा बोधिः शासने जिनभाषिते ॥२९७॥

अन्वयार्थ–(बहुयोनिसमाकुले संसारे) चौरासी लाख योनियोंसे भरे हुए संसारमें (चिरं गतस्य) अनन्तकालसे भ्रमण करते हुए जीवको (जिनभाषिते शासने सुदुर्लभा बोधिः प्राप्ता) जिनेन्द्रभाषित धर्ममें बड़ी कठिनतासे ज्ञानका लाभ हुआ है ।

भावार्थ–दीर्घकालीन संसारमें एक तो मानव-जन्मका पाना कठिन है, दूसरे उत्तम कुल, दीर्घ आयु, इन्द्रिय-पूर्णता, उत्तम देश, जैनधर्मका समागम ये सब साधन मिलना एकसे एक कठिन है। इस पर भी जैनधर्मका ज्ञान होना तो बहुत ही कठिन है। जिसको हो जावे उसको उचित है कि उस आत्मज्ञानको सम्हालकर रखे तथा प्रमाद छोड़कर आत्माका हितसाधन कर ले। यदि प्रमाद करेगा तो यह अवसर फिर न मिलेगा ।

अधुना तां समासाद्य संसारच्छेदकारिणीम् ।
प्रमादो नोचितः कर्तुं निमेषमपि धीमतां ॥२९८॥

अन्वयार्थ–(अधुना) अब (संसारच्छेदकारिणीं तां समासाद्य) संसारको छेद करनेवाली उस बोधिको पाकर (धीमतां) बुद्धिमानको (निमेषं अपि) एक क्षणमात्र भी (प्रमादः कर्तुं न उचितः) प्रमाद करना उचित नहीं है ।

भावार्थ–बड़ी ही कठिनतासे जैनधर्मका समागम होता है, तथा उससे भी कठिन तत्त्वोंका ज्ञान है। ज्ञान होकर श्रद्धान होना तो और भी कठिन है। श्रद्धानसहित ज्ञान होनेपर चारित्रके पालनमें बुद्धिमानको प्रमाद नहीं करना चाहिए, क्योंकि मानवजन्मके बीत जानेका कोई समय नियत नहीं है। शीघ्रातिशीघ्र आत्मशुद्धिका पुरुषार्थ कर लेना उचित है। मुनि या श्रावकके व्यवहारचारित्रके सहारेसे आत्मानुभवरूप निश्चय चारित्रका अभ्यास करना योग्य है जिससे जीवन सदा सुखदायी हो जावे।

प्रमादं ये तु कुर्वंति मूढा विषयलालसाः ।
नरकादिषु तिर्यक्षु ते भ्रमन्ति चिरं नराः ॥२९९॥

अन्वयार्थ–(ये तु मूढा) जो कोई मूढ़ पुरुष (विषयलालसाः) इन्द्रियोंके विषयोंके लम्पटी होकर (प्रमादं कुर्वंति) प्रमाद करते हैं (ते नराः नरकादिषु तिर्यक्षु चिरं भ्रमन्ति) वे मानव नरक-तिर्यंच आदि गतियोंमें दीर्घकाल तक भ्रमण करते रहते हैं ।

भावार्थ–अवसरको चूकना बड़ी भारी भूल है। आत्म-ज्ञानका लाभ हो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जावे तब मानवोंको आत्मध्यानका विशेष उपाय करना योग्य है जिससे कर्मोंका क्षय हो तथा जब तक मोक्षका लाभ न हो तब तक देव या मनुष्य गतिमें जन्म हुआ करे, नरक या पशुगतिमें जाना न पड़े। क्योंकि इन दोनों गतियोंमें शारीरिक घोर कष्ट भोगने पडते हैं। मिथ्यादृष्टि जीव एक बार निगोदमें चला जाता है तब वहाँसे उन्नति करते हुए द्वीन्द्रियादि पर्याय पाना ही बहुत दुर्लभ है। मनुष्य होना तो बहुत ही कठिन है।

स्वाधीन-सुख ही सच्चा सुख है

आत्मा यस्य वशे नास्ति कुतस्तस्य परे जनाः ।
आत्माधीनस्य शान्तस्य त्रैलोक्यं वशवर्तिनं ॥२००॥

अन्वयार्थ–(यस्य वशे आत्मा नास्ति) जिसके आधीन अपना आत्मा नहीं है (परे जनाः कुतः तस्य) उसके आधीन दूसरे मानव कैसे हो सकते हैं? (आत्माधीनस्य शांतस्य त्रैलोक्यं वशवर्तिनं) जिसके आधीन अपना आत्मा है व जो शांत है उसके आधीन तीन लोक हो जाता है।

भावार्थ–जो अपनी इन्द्रियोंको अपने वशमें रखता है, जिसके आधीन कषायभाव है, जो शान्तचित्त है, सहनशील है, क्षमावान है, उसका ऐसा प्रभाव पड़ता है कि तीन लोकके प्राणी उसके आधीन हो जाते हैं, आत्माके अन्तरंग गुण प्राणीमात्रको वश कर लेते हैं। अतएव अपने आत्माकी उन्नति अत्यन्त आवश्यक है।

आत्माधीनं तु यत्सौख्यं तत्सौख्यं वर्णितं बुधैः ।
पराधीनं तु यत्सौख्यं दुःखमेव न तत्सुखम् ॥२०१॥

अन्वयार्थ–(यत् सौख्यं आत्माधीनं) जो सुख आत्माधीन है–आत्माका स्वभाव है (तत्सौख्यं बुधैः वर्णितं) उसीको बुद्धिमानोंने सुख कहा है। (यत् तु पराधीनं सौख्यं) जो सुख पराधीन है–इन्द्रियोंके विषयोंके आधीन है (तत्सुखं न दुखं एव) वह सुख नहीं है, किन्तु वह दुःखरूप ही है।

भावार्थ–इन्द्रियोंका सुख अतृप्तिकारी है व तृष्णाकी दाहको बढ़ानेवाला है, आकुलताका कारण है जब कि अतीन्द्रिय सुख स्वाधीन है, आत्माका स्वभाव है, अविनाशी है, निराकुल है, कर्मोंका क्षय करनेवाला है। अतएव इस सच्चे आत्मिक सुखके लिए बुद्धिमानोंको उपवास करना योग्य है। इसका उपाय परसे ममत्व छोडकर एक निज आत्माका ही ध्यान है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पराधीनं सुखं कष्टं राज्ञामपि महौजसां ।
तस्मादेतत् समालोच्य आत्मायत्तं सुखं कुरु ॥३०२॥

अन्वयार्थ–(महौजसां राज्ञां अपि) महान तेजस्वी राजाओंको भी (पराधीनं सुखं कष्टं) पराधीन सुख कष्टका देनेवाला है (तस्मात् एतत् समालोच्य) इसलिए ऐसा भले प्रकार विचारकर (आत्मायत्तं सुखं कुरु) आत्माधीन अतीन्द्रिय सुखके लिए प्रयत्न करना योग्य है।

भावार्थ–इन्द्रियसुखसे कभी तृप्ति नहीं होती। बड़े-बड़े राजाओंकी भी तृष्णा बढ जाती है। जब इच्छित वस्तु नहीं प्राप्त होती है तब उनको बड़ा दुःख होता है तथा इष्ट पदार्थके वियोगका कष्ट होता है। साधारण लोगोंकी तो बात ही क्या है ? इसलिए यही उचित है कि इन्द्रियसुखको असार जानकर आत्माके स्वाभाविक सुखके लाभका प्रयत्न किया जावे, जिससे उभयलोकमें आनन्दका लाभ हो।

आत्मायत्तं सुखं लोके परायत्तं न तत्सुखं ।
एतत् सम्यक् विजानंतो [1]मुह्यन्ते मानुषाः कथं ॥३०३॥

अन्वयार्थ–(लोके आत्मायत्तं सुखं) इस लोकमें स्वाधीन सुख है वही सुख है (परायत्तं तत् सुखं न) पराधीन सुख सुख नहीं है (एतत् सम्यक् विजानन्तः) ऐसा भले प्रकार जानते हुए (मानुषाः कथं मुह्यन्ते) मनुष्य क्यों इन्द्रियसुखमें मोह करते हैं ?

भावार्थ–अतीन्द्रिय सुख आत्माका स्वभाव है। अपनेसे ही अपनेको जब चाहे तब प्राप्त हो सकता है। वह कभी कम नहीं होता। उसके भोगनेमें अपनी कुछ हानि नहीं है, उल्टा कर्मोंका क्षय होता है। ऐसे सुखके सामने इंद्रियसुख पराधीन है, परपदार्थोंके व इन्द्रिय-बलके आधीन है, अतृप्तिकारी है। तृष्णारोगवर्धक है ऐसा भले प्रकार समझकर बुद्धिमानोंका कर्तव्य है कि वे उस झूठे इन्द्रियसुखमें मोह न करें। जो जानते हुए भी मोह करते हैं यह बड़े आश्चर्यकी बात है। वह मोहनीय कर्मके तीव्र उदयका दोष है। इस मोहके घटानेका उपाय जिनागमका सेवन है।

परिग्रह सुखका बाधक है

नो सङ्गाज्जायते सौख्यं मोक्षसाधनमुत्तमम् ।
सङ्गाच्च जायते दुःखं संसारस्य निबन्धनम् ॥३०४॥

पाठान्तर–१. मुच्यन्ते।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्वयार्थ–(संगात्) परिग्रहकी मूर्छासे **(उत्तमम्)** उत्तम व **(मोक्षसाधनं सौख्यं न जायते)** मोक्षका साधनभूत सुख नहीं प्राप्त होता है **(च संगात् संसारस्य निबन्धनं दुःखं जायते)** किंतु परिग्रहकी मूर्छासे संसारका कारण दुःख ही प्राप्त होता है।

भावार्थ–परिग्रहका ममत्व त्याग देनेसे, विषयोंकी चाह मिटा देनेसे और मोक्षसे प्रेम करनेसे वीतरागभावसहित आत्मामें रमण होता है तब उत्तम अतीन्द्रिय सुख भी मिलता है तथा कर्मोंका क्षय भी होता है, संसार कटता है। परन्तु परिग्रहके ममत्वसे ऐसा अपूर्व सुख नहीं प्राप्त हो सकता है, इतना ही नहीं, पापोंका बंध होता है जिससे संसार भी बढ़ता है और दुःखोंको भी सहना पड़ता है।

दुःखमें शोच वृथा है

पूर्वकर्मविपाकेन बाधायां यच्च शोचनम्।
तदिदं तु स्वदंष्ट्रस्य जरच्चेडाहिताडनम्॥३०५॥

अन्वयार्थ–(पूर्वकर्मविपाकेन बाधायां यत् च शोचनम्) पूर्व कर्मोंके उदयसे प्रतिकूलता उत्पन्न होनेपर शोच करना **(तत इदं तु)** सो ऐसा ही है जैसे कोई **(स्वदंष्ट्रस्य)** स्वयं अपने आपको काट ले और **(जरत् चेडाहिताडनम्)** वृद्ध नौकरको प्रताडित करे।

भावार्थ–कोई असमर्थ पुरुष शारीरिक पीडासे घबड़ाकर स्वयं ही अपनेको काट ले और वृद्ध नौकरको क्रोधसे प्रताडित करे–फिटकार लगावे तो यह उसकी मूर्खता ही है। उसने ही स्वयंको काटा है उसका कष्ट उसको ही भोगना पड़ेगा। इसी प्रकार जो तीव्र कर्म इस जीवने स्वयं बाँधा है उसके उदय आनेपर शोच करना या घबड़ाना वृथा है, मूर्खता ही है। क्योंकि वह अपने ही दोषका फल है। अतः बुद्धिमानोंको उचित है कि प्राप्त हुए दुःखको समतासे भोग लेवे।

[1]अज्ञे हि बाधते दुःखं मानसं न विचक्षणे।
पवनैर्नीयते तूलं मेरोः शृंगं न जातुचित्॥३०६॥

अन्वयार्थ–(मानसं दुःखं) मानसिक दुःख **(विचक्षणे न हि अज्ञे बाधते)** बुद्धिमान पण्डितको कष्ट नहीं पैदा करता है किन्तु अन्य मूर्खको ही सताता है **(पवनैः तूले नीयते मेरोः शृंगं जातुचित् न)** पवनके वेगोंसे रुई उड़ जाती है किन्तु सुमेरु पर्वतका शिखर कभी नहीं उड़ता है।

पाठान्तर–१. अन्यो।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थ—अज्ञानी दुःखोंके पड़नेपर मनमें त्रासित होकर घबड़ाते हैं व शोच करते हैं परन्तु सम्यग्ज्ञानी कर्मोंके दुःखको जानकर, अपना ही अपराध मानकर, सन्तोषित रहकर समभाव रखते हैं। जैसे तीव्र पवन रुईके ढेरको उड़ा सकती है, परन्तु सुमेरु शिखरको कदापि नहीं उड़ा सकती है, वह निश्चल बना रहता है। साधुजन परीषह व उपसर्गोंको बड़ी ही शांतिसे सहन कर लेते हैं।

ज्ञान पानेका फल स्वरूपरमणता है

परं ज्ञानफलं वृत्तं न विभूतिर्गरीयसी ।
तथा हि वर्धते कर्म सद्वृत्तेन विमुच्यते ॥३०७॥

अन्वयार्थ—(ज्ञानफलं परं वृत्तं न गरीयसी विभूतिः) शास्त्रज्ञान पानेकी सफलता उत्तम चारित्र-पालन है न कि विपुल धनका लाभ। (तथा हि कर्म वर्धते) विपुल धनके संयोगसे तो कर्मोंका बंध बढ़ेगा जब कि (सद्वृत्तेन विमुच्यते) स्वरूपाचरणरूप सम्यक्चारित्रसे बंधका नाश होगा।

भावार्थ—जो कोई विद्या पढकर व शास्त्रोंका ज्ञाता होकर उस ज्ञानके फलसे बहुत धनका संचय करना चाहता है वह कुफलको चाहता है, ज्ञानका दुरुपयोग करता है। क्योंकि धनरूपी परिग्रह मूर्छा बढ़ानेमें कारण होगा जिससे कर्मोंका अधिक संचय होगा, परम्पराय संसार बढ़ेगा। शास्त्रज्ञानका फल वैराग्य है। तत्त्वज्ञानीको यथाशक्ति व्यवहारचारित्र पालकर निश्चय आत्मरमणरूप चारित्रका अभ्यास करना चाहिए, जिससे नवीन कर्मोंका संवर हो व पुरातन कर्मोंकी निर्जरा हो और यह आत्मा बंधसे छूटकर मुक्त हो जावे और शुद्ध होकर सदाके लिए कृतकृत्य और सुखी हो जावे। फिर भवभवमें भटकना न पड़े।

संवेगः परमं कार्यं श्रुतस्य गदितं बुधैः ।
तस्माद्ये धनमिच्छन्ति ते त्विच्छन्त्यमृताद्विषम् ॥३०८॥

अन्वयार्थ—(श्रुतस्य परमं कार्यं संवेगः बुधैः गदितं) शास्त्रज्ञानका उत्तम फल वैराग्य है ऐसा बुद्धिमानोंने कहा है (तस्मात्) उस शास्त्रज्ञानसे (ये धनं इच्छन्ति) जो कोई धनकी चाहना करते हैं (ते तु अमृतात् विषं इच्छंति) वे तो अमृत पीकर विषकी चाह करते हैं।

भावार्थ—जिनवाणीका भले प्रकार अभ्यास जो करे उसको संसार-शरीर-भोगोंसे वैराग्य आना चाहिए तथा उसे आत्म-कल्याणका प्रयत्न

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

करना चाहिए। परन्तु जो कोई शास्त्रोंको पढकर संवेग-भाव प्राप्त न करे और उस ज्ञानसे धन कमाकर धनवान होना चाहे, परिग्रहके ममत्वमें फँसना चाहे, वह उस विद्यासे मोही बनकर दुर्गतिका पात्र बनेगा। वह ऐसा ही मूर्ख है जैसा वह मूर्ख कि जो अमृत पीकर विष पीना चाहे। जिनवाणीका स्वाद अमृतरूप है सो अमर अजर मोक्षका कारण है। जिससे अविनाशी मोक्ष मिल सकता है उससे संसारके तुच्छ विषय भोग करके सुख मान लेना विषग्रहणके समान है।

सच्चा धन क्या है?

श्रुतं वृत्तं शमो येषां धनं परमदुर्लभम् ।
ते नराः धनिनः प्रोक्ताः शेषा निर्धनिनः सदा ।।३०९।।

अन्वयार्थ–(येषां परमदुर्लभं धनं श्रुतं वृत्तं शमः) जिनके पास बड़ी कठिनतासे प्राप्त करने योग्य धन–शास्त्रज्ञान, चारित्र व शमभाव–हैं (ते नराः धनिनः प्रोक्ताः) वे ही मानव धनवान कहे गये हैं, (शेषाः सदा निर्धनिनः) बाकी मानव धनवान होकर भी निर्धनी हैं।

भावार्थ–जिससे सच्चा सुख व संतोष मिले वही धन है। मानवोंको सच्चा सुख देनेवाले तीन पदार्थ हैं–शास्त्रोंका यथार्थ ज्ञान, मुनि या श्रावकका चारित्र-पालन तथा सम्यग्दर्शनसे प्राप्त होनेवाला समभाव या शांतभाव। जिनको ये तीन महान गुण मिल गये वे ही सच्चे धनी हैं। इनका प्राप्त करना बड़ा कठिन है। इन्हींको प्राप्त करना चाहिए। जो शास्त्रज्ञानरहित, चारित्र- रहित, और सम्यग्दर्शनरहित हैं वे धनवान होकर भी निर्धनी हैं। उनको सच्ची सुखशांति कभी भी प्राप्त न होगी। वे इस जीवनमें भी दुःखी होंगे और आगामी कालमें भी दुःखी होंगे।

लौकिक भोग तृप्तिकारी नहीं

को वा तृप्ति समायातो भोगैर्दुरितबन्धनैः ।
देवो वा देवराजो वा चक्रांको वा नराधिपः ।।३१०।।

अन्वयार्थ–(दुरितबन्धनैः भोगैः) पापको बाँधनेवाले भोगोंसे (को वा तृप्ति समायातः)कौन ऐसा है जिसको तृप्ति हो सकती हो ? (देवः वा देवराजः वा चक्रांकः वा नराधिपः) चाहे वह देव हो या इन्द्र हो या चक्रवर्ती हो या राजा हो।

भावार्थ–इन्द्रियोंके भोगोंको भोगनेसे किसीको भी तृप्ति नहीं होती।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निर्धन हो या धनी हो, भोगरोगसे पीड़ित सब दुःखी हैं। इन्द्र, चक्रवर्ती, देव, राजा तो पुण्यशाली माने जाते हैं। वे दीर्घकाल तक मनवांछित इन्द्रियोंके भोग करते हैं फिर भी उनका मन कभी तृप्त नहीं होता है। जैसे समुद्र नदीसे व अग्नि ईंधनसे तृप्त नहीं होती है वैसे ही यह मन विषयोंके भोगसे तृप्त नहीं होगा।

आत्मा ही सच्चा तीर्थ है

आत्मा वै सुमहत्तीर्थं यदासौ प्रशमे स्थितः ।
[1]यदासौ प्रशमो नास्ति ततस्तीर्थं निरर्थकम् ।।३११।।

अन्वयार्थ–(यदा आत्मा प्रशमे स्थितः असौ सुमहत् तीर्थं) जिस समय आत्मा शांतभावमें स्थिर हो जाता है वही महान तीर्थ है (यदा असौ प्रशमे नास्ति) और जब यह आत्मा शान्तभावमें नहीं है (ततः तीर्थं निरर्थकम्) तब तीर्थयात्रा निरर्थक है।

भावार्थ–जो संसारसे तारे, पार उतारे उसे ही तीर्थ कहते हैं। संसारतारक एक आत्माका अनुभव है, जहाँ निश्चय सम्यग्दर्शन, निश्चय सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र तीनोंकी एकता हो रही है। आत्मानुभवके समयमें आत्मा शान्त होता है यही दशा सच्चा मोक्षमार्ग है। इस आत्ममननको जागृत करनेके लिए तथा शांत भावोंकी प्राप्तिके लिए जो तीर्थयात्रा श्री सम्मेदशिखर, गिरनार आदि तीर्थस्थानोंकी करता है वह यात्रा सफल है, सार्थक है, परन्तु जिसको आत्मभावनाकी ओर लक्ष्य नहीं है, केवल लौकिक समझकर तीर्थस्थानोंमें जायेगा, उसको मोक्षमार्गका लाभ न होगा इसलिए उसकी यात्रा निरर्थक है। केवल कुछ पुण्य बाँध लेगा–मोक्षकी सिद्धि वह कदापि नहीं कर सकेगा।

जलस्नानसे आत्म-शुद्धि नहीं

शीलव्रतजले स्नातुं शुद्धिरस्य शरीरिणः ।
न तु स्नातस्य तीर्थेषु सर्वेष्वपि महीतले ।।३१२।।

अन्वयार्थ–(शीलव्रतजले स्नातु अस्य शरीरिणः शुद्धिः) शील-रूपी जलके भीतर स्नान करनेसे इस प्राणीकी शुद्धि हो सकती है। (महीतले सर्वेषु तीर्थेषु अपि स्नातस्य न तु) किन्तु इस पृथ्वीमें सर्व ही नदियोंमें स्नान करनेसे भी कदापि शुद्धि नहीं हो सकती।

पाठान्तर–१. अथास्य।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावार्थ—आत्माका कर्मोंसे छूटना व रागद्वेष भावोंसे छूटना यहीं प्रयोजन है। उसकी सिद्धि नदियोंके स्नानसे कदापि नहीं हो सकती (नदीस्नान तो हिंसाका कारण है) किन्तु शुद्धि शीलव्रत पालनेसे होगी। अन्तरंग शीलव्रत कषायोंको मंद करके शांतभावजन्य ब्रह्मरूपी आत्मामें रमणता है, बाहरी ब्रह्मचर्यमें मैथुनका त्याग है। जिससे आत्मा शांतरसमें नित्य गोते खाता है वह नित्य आत्मगंगामें स्नान कर रहा है। यही सच्चा स्नान हैं जो कर्ममल धोता है। अनेक नदियोंमें स्नान करनेसे आत्माकी शुद्धि कर्मोंसे कदापि हो नहीं सकती है। उनसे तो हिंसाके कारण पापका ही बंध होगा। इसलिए बुद्धिमान मानवको उचित है कि इस आत्मगंगामें नित्य स्नान करके पवित्र हो।

तत्त्वज्ञानका स्नान सच्चा स्नान है

रागादिवर्जितं स्नानं ये कुर्वन्ति दयापराः ।
तेषां निर्मलता योगे न च स्नातस्य वारिणा ।।३१३।।

अन्वयार्थ—(ये दयापराः) जो दयावान पुरुष (रागादिवर्जितं स्नानं कुर्वन्ति) रागद्वेषादिसे रहित आत्माके स्वरूपमें रमण करते हुए उसीमें डुबकी लगाते हैं (तेषां निर्मलता योगे) उनकी शुद्धि योगाभ्यासमें हो जाती है। (न च स्नातस्य वारिणा) किंतु जलमें स्नान करनेवालेकी शुद्धि जलसे नहीं हो सकती है।

भावार्थ—आत्माको कर्मोंसे छुडानेका उपाय या रागादि मलसे छुड़ानेका उपाय, वीतराग विज्ञानमय आत्माके भीतर स्नान करना है। जलका स्नान आत्माके भावोंको शुद्ध नहीं कर सकता है। जल-स्नानसे हिंसा होती है इससे पापका बन्ध होता है। दयावान महात्मागण जल-स्नानसे शुद्धि न मानकर आत्माके अनुभवसे शुद्धि होती है ऐसा निश्चय करके आत्मारूपी गंगामें स्नान करते हैं, यही सच्चा स्नान है।

आत्मानं स्नापयेन्नित्यं ज्ञाननीरेण चारुणा ।
येन निर्मलतां याति जीवो जन्मान्तरेष्वपि ।।३१४।।

अन्वयार्थ—(आत्मानं नित्यं चारुणा ज्ञाननीरेण स्नापयेत्) आत्माको सदा पवित्र ज्ञानरूपी जलसे नहलाना चाहिए (येन जीवः जन्मान्तरेषु अपि निर्मलतां याति) जिससे यह जीव अन्य भवमें भी कर्मरूपी मैलसे छूटकर निर्मल हो जाता है।

भावार्थ—तत्त्वज्ञानमें रमण करना ऐसा पवित्र स्नान है जिससे केवल इसी जन्ममें ही शुद्धि नहीं होती है, किंतु वह भवभवमें आत्मशुद्धिदाता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उससे आत्मा शुद्ध हो जाता है, यह पवित्र संस्कार परलोकमें भी साथ बना रहता है।

शरीर शुचि नहीं हो सकता

सर्वाशुचिमये काये शुक्रशोणितसंभवे ।
शुचित्वं येऽभिवांच्छंति नष्टास्ते जडचेतसः ॥३१५॥

अन्वयार्थ–(ये शुक्रशोणितसंभवे सर्वाशुचिमये काये) जो कोई वीर्य और रुधिरसे उत्पन्न पूर्णरूपसे अपवित्र शरीरमें (शुचित्वं अभिवांच्छंति) पवित्रताकी वांछा करते हैं (ते जडचेतसः नष्टाः) वे जडबुद्धि अपना नाश करते हैं।

भावार्थ–यह मानवदेह माताका रुधिर व पिताका वीर्य इन दोनोंके संयोगसे पैदा होता है तथा सर्वत्र मलमूत्र, रुधिर, कफ, हाडमांससे भरा है। इसके नव बड़े द्वारोंसे व रोमछिद्रोंसे सदा मल ही बहता है। इसको कोई लाखों बार गंगाजलसे स्नान करावे तो भी यह पवित्र नहीं हो सकता। जैसे मदिराका घड़ा पानीमें डुबानेसे शुद्ध नहीं हो सकता। जो जलादिसे इस शरीरका पवित्र होना मानते हैं वे मूर्ख हैं। उनको तत्त्वज्ञानका होना कठिन है।

औदारिकशरीरेऽस्मिन् सप्तधातुमयेऽशुचौ ।
शुचित्वं येऽभिमन्यन्ते पशवस्ते न मानवाः ॥३१६॥

अन्वयार्थ–(ये) जो कोई (अस्मिन् सप्तधातुमये अशुचौ औदारिक शरीरे) इस सात धातुमय अपवित्र औदारिक शरीरमें (शुचित्वं अभिमन्यन्ते) पवित्रपना मानते हैं (ते पशवः न मानवाः) वे पशु हैं, मानव नहीं।

भावार्थ–मानवोंका शरीर औदारिक है जिसमें सात धातु भरी हैं, यह महा अपवित्र है। उसको पवित्र मानना बिलकुल मूर्खता है। किन्तु इसकी भी पवित्रता तत्त्वज्ञानके रमणसे तथा ध्यान-स्वाध्यायसे होती है। महात्माओंके शरीर पूजनीय हो जाते हैं; वास्तवमें पूजनीय आत्मा होता है उसकी संगतिसे शरीर भी पूजनीय हो जाता है।

शुद्धि क्या वस्तु है?

सत्येन शुद्ध्यते वाणी मनो ज्ञानेन शुद्ध्यति ।
गुरुशुश्रूषया कायः शुद्धिरेष सनातनः ॥३१७॥

अन्वयार्थ–(वाणी सत्येन शुद्ध्यते) वाणीकी शुद्धि सत्य बोलनेसे है, (मनः ज्ञानेन शुद्ध्यति) मनकी शुद्धि तत्त्वज्ञानसे है, (कायः गुरुशुश्रूषया) कायकी शुद्धि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गुरुकी सेवासे है, (एषः सनातनः शुद्धिः) यह अनादिकालकी अर्थात् सनातन शुद्धि है।

भावार्थ—हमारे पास मन वचन काय हैं, उनकी शुद्धिका उपाय यह है कि हम मनमें तत्त्वज्ञानका विचार करें, मन पवित्र होगा। वचनोंसे सत्य, शास्त्रोक्त, हितकारी वचन बोलें, इससे वचनकी शुद्धि बनी रहती है। कायकी शुद्धि गुरुकी सेवासे या दुःखी थके हुए धर्मात्माओंकी सेवासे होती है। जिनका मन वचन काय इस तरह शुद्ध रहता है वे ही मानव महात्मा हैं व पवित्र हैं।

मनुष्य-जन्मकी सफलता

स्वर्गमोक्षोचितं नृत्वं मूढैर्विषयलालसैः ।
कृतं स्वल्पसुखस्यार्थं तिर्यङ्नरकभाजनम् ॥३१८॥

अन्वयार्थ—(विषयलालसैः मूढैः) विषयोंके लम्पटी मूर्ख लोगोंने (स्वर्ग-मोक्षोचितं नृत्वं) इस मनुष्य जन्मको जिससे स्वर्ग तथा मोक्षकी सिद्धि की जा सकती है (स्वल्पसुखस्यार्थं) अल्प इन्द्रियसुखके अर्थ खोकर (तिर्यङ्नरकभाजनम् कृतं) अपनेको तिर्यंचगति व नरक गतिमें जानेके योग्य कर लिया।

भावार्थ—यह मनुष्य-जन्म बड़ा ही दुर्लभ है। उसको पाकर ऐसा यत्न करना चाहिए जो जन्म-मरणसे रहित मोक्षका लाभ हो जावे। यदि कदाचित् मोक्ष न प्राप्त हो तो स्वर्ग तो अवश्य प्राप्त हो जावे। यह तब ही हो सकता है जब जैनधर्मका श्रद्धापूर्वक साधन किया जावे। जो इस बातको भूलकर विषयभोगोंमें फँस जाते हैं वे मरकर दुर्गतिमें चले जाते हैं।

सामग्रीं प्राप्य सम्पूर्णां यो विजेतुं निरुद्यमः ।
विषयारिमहासैन्यं तस्य जन्म निरर्थकम् ॥३१९॥

अन्वयार्थ—(सम्पूर्णां सामग्रीं प्राप्य) सब अनुकूल सामग्रीको पाकर (यः विषयारिमहासैन्यं विजेतुं निरुद्यमः) जो विषयरूपी शत्रुकी सेनाको जीतनेका उद्यम नहीं करता है (तस्य जन्म निरर्थकम्) उसका संसारमें जन्म व्यर्थ है।

भावार्थ—मनुष्य-जन्म, इन्द्रियोंकी पूर्णता, दीर्घायु, लोकमान्य कुल, उत्तम जिनधर्मकी संगति, निराकुल आजीविका इत्यादि सब अनुकूल साधन पाकर भी जो इन्द्रियोंके विषयोंके मोहमें फँस जावे और इन विषयोंको शत्रु समझकर उनके जीतनेका प्रयत्न न करे तो उस मानवका जन्म व्यर्थ ही हुआ। नरदेह पानेका फल यही है जो आत्माके वैरी विषयकषायोंको जीता जावे, जिससे शीघ्र ही संसारका भ्रमण दूर हो।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पापरहित वचन बोलो

निरवद्यं वदेद्वाक्यं मधुरं हितमर्थवत् ।
प्राणिनां चेतसोऽह्लादि मिथ्यावादबहिष्कृतम् ॥३२०॥

अन्वयार्थ–(वाक्यं निरवद्यं मधुरं हितं अर्थवत् प्राणिनां चेतसः आह्लादि मिथ्यावादबहिष्कृतम् वदेत्) वचन ऐसा बोलना चाहिए जो पापगर्भित न हो, मीठा हो, हितकारी हो, अर्थ सहित हो, प्राणियोंके चित्तको प्रसन्न करनेवाला हो तथा मिथ्यावादसे रहित हो ।

भावार्थ–वचनोंके कारण जगतसे प्रेम या जगतसे द्वेष हो जाता है। इसलिए द्वेषोत्पादक हिंसाकारी पीडाकारी कटुक वचन न कहकर ज्ञानीको ऐसे वचन बोलने चाहिएँ मानो अमृत ही पिला रहे हैं। जो वचन सार्थक हितकारी व मीठा होता है वही वचन बोलना उचित है। झूठ कभी नहीं बोलना चाहिए।

प्रियवाक्यप्रदानेन सर्वे तुष्यंति जन्तवः ।
तस्मात्तदेव वक्तव्यं किं वाक्येऽपि दरिद्रता ॥३२१॥

अन्वयार्थ–(प्रियवाक्यप्रदानेन सर्वे जन्तवः तुष्यन्ति) मिष्ट वचन बोलनेसे सर्व प्राणी प्रसन्न रहते हैं (तस्मात् तत् एव वक्तव्यं) इसलिए ऐसा ही प्रिय वचन बोलना योग्य है । (वाक्येऽपि दरिद्रता किं) वचनोंको मधुरतासे कहनेमें क्यों दरिद्रता होनी चाहिए अर्थात् नहीं होनी चाहिए ।

भावार्थ–जगतमें शब्दोंकी कमी नहीं है। बुद्धिमान सज्जनको उचित है कि मीठे वचन लोगोंसे बोले। मिष्ट वचन कहना मानो अमृतका पिलाना है। अप्रिय कठोर शब्दोंको काममें न ले। सर्व शब्द कोमल हितकारी होने चाहिए।

संसार-दुःखके क्षयका उपाय

व्रतं शीलतपोदानं संयमोऽर्हत्पूजनम् ।
दुःखविच्छित्तये सर्वं प्रोक्तमेतन्न संशयः ॥३२२॥

अन्वयार्थ–(दुःखविच्छित्तये) संसारके दुःखोंका नाश करनेके लिए (व्रतं शीलतपोदानं संयमः अर्हत्पूजनम् एतत् सर्वं प्रोक्तं न संशयः) मुनिव्रत या श्रावकव्रत, ब्रह्मचर्य, १२ प्रकार तप, चार प्रकार दान, संयम तथा अर्हन्तका पूजन ये सब उपाय कहे गये हैं। इसमें संशय न रखना चाहिए।

भावार्थ–जो इस जन्मके व आगामी दुःखोंसे बचना चाहें उनको अपनी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शक्तिके अनुसार अहिंसादि पाँच व्रतोंको पालना चाहिए। ब्रह्मचर्यपर विशेष लक्ष्य देना चाहिए। बारह प्रकार तप करना चाहिए। आहार औषधि आदि दान करना चाहिए। नियम वं प्रतिज्ञा लेनी चाहिए व अर्हन्त भगवानकी श्रद्धापूर्वक पूजा करनी चाहिए। इन्हीं उपायोंसे कर्मका नाश होगा।

तृणतुल्यं परद्रव्यं परं च स्वशरीरवत् ।
पररामा समा मातुः पश्यन् याति परं पदम् ॥३२३॥

अन्वयार्थ–(**परद्रव्यं तृणतुल्यं**) दूसरेके धनको तृणके समान, (**परं च स्वशरीरवत्**) दूसरेके शरीरको अपने शरीरके समान, (**पररामा मातुः समा**) परस्त्रीको माताके समान (**पश्यन्**) जो देखता है (**परं पदं याति**) वह परमपद मोक्षको पाता है।

भावार्थ–हरएक मानवको अहिंसाव्रत भले प्रकार पालना चाहिए। जिसके पास जो वस्तुएँ होती हैं वे उसे प्राणोंसे अधिक प्यारी होती है। इसलिए उसकी वस्तुओंको चुराना बड़ा दोष है, बड़ी हिंसा है। अतएव परके धनको तृणके समान देखकर उसकी लालसा न करनी चाहिए। जैसे अपने शरीरको कष्ट पहुँचता है तो वेदना होती है वैसे यदि दूसरेके शरीरमें मैं कष्ट पहुँचाऊँगा तो वेदना होगी ऐसा समझकर किसीको सताना न चाहिए। ब्रह्मचर्यव्रतकी रक्षार्थ परस्त्रीको माताके समान देखना चाहिए। स्वस्त्रीमें गृहस्थको संतोष रखना चाहिए। ये ही बातें जीवको मोक्षमें पहुँचा देती है।

सम्यक्त्वं समतायोगो नैःसङ्गं क्षमता तथा ।
कषायविषयासङ्गः कर्मणां निर्जरा परा ॥३२४॥

अन्वयार्थ–(**सम्यक्त्वं**) सम्यग्दर्शन–तत्त्वार्थका श्रद्धान, (**समता**) वीतरागता, (**योगः**) ध्यान, (**नैसंगं**) परिग्रहका त्याग, (**क्षमता**) क्षमा, (**तथा कषायविषयासंगः**) तथा विषय कषायका त्याग, (**कर्मणां परा निर्जरा**) ये सब कर्मोंकी बड़ी निर्जरा करनेवाले हैं।

भावार्थ–कर्मोंके बन्धनसे छूटनेके लिए सम्यग्दर्शनसहित वीतरागताका, ध्यानका, अपरिग्रहका, क्षमाका, विषय-कषायोंके त्यागका अभ्यास मोक्षका साधन है। इनको निरन्तर पालना चाहिए।

अयं तु कुलभद्रेण भवविच्छित्तिकारणम् ।
दृब्धो बालस्वभावेन ग्रन्थः सारसमुच्चयः ॥३२५॥

अन्वयार्थ–(**बालस्वभावेन कुलभद्रेण**) बाल स्वभावधारी कुलभद्रने (**अयं तु**

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सारसमुच्चय ग्रन्थः भवविच्छित्तिकारणम् दृब्धः) इस सारसमुच्चय ग्रन्थको संसारकी स्थिति काटनेके लिए रचा है।

भावार्थ–श्री कुलभद्रचार्यने केवल आत्मकल्याणके हेतु इस ग्रन्थको रचा है, और कोई ख्यातिकी चाह नहीं है।

ये भक्त्या भावयिष्यन्ति भवकारणनाशनम् ।
तेऽचिरेणैव कालेन [1]सुखं प्राप्स्यंति शाश्वतम् ॥३२६॥

अन्वयार्थ–(ये भवकारणनाशनम् भक्त्या भावयिष्यन्ति) जो कोई संसारके कारण कर्मोंको क्षय करनेके लिए भक्तिपूर्वक इस ग्रन्थकी भावना करेंगे (ते अचिरेण एव कालेन शाश्वतम् सुखं प्राप्स्यंति) वे थोड़े ही कालमें अविनाशी सुखको प्राप्त होंगे अर्थात् मोक्षका लाभ करेंगे।

भावार्थ–इस ग्रन्थमें सुगमतासे मोक्षका उपाय बताया है अर्थात् आत्मानंद पानेका मार्ग झलकाया है। जो कोई इसे बारबार पढेंगे वे सच्चे सुखको पायेंगे।

सारसमुच्चयमेतद्ये पठन्ति समाहिताः ।
ते स्वल्पेनैव कालेन पदं यास्यन्त्यनामयं ॥३२७॥

अन्वयार्थ–(ये समाहिताः एतत् सारसमुच्चयं पठन्ति) जो समाधानचित्त होकर इस सारसमुच्चय ग्रन्थको पढेंगे (ते स्वल्पेन एव कालेन अनामयं पदं यास्यन्ति) वे थोड़े ही कालमें सर्व रोगरहित अविनाशी पदको पा सकेंगे।

भावार्थ–इस ग्रन्थका शांतिसे मनन वैराग्यका कारण है। वैराग्यसे ध्यानकी सिद्धि होती है और ध्यानसे मोक्ष प्राप्त होता है।

नमः परमसद्ध्यानविघ्ननाशनहेतवे ।
महाकल्याणसम्पत्तिकारिणेऽरिष्टनेमये ॥३२८॥

अन्वयार्थ–(परमसद्ध्यानविघ्ननाशनहेतवे) परम सुन्दर धर्मध्यान व शुक्लध्यानमें विघ्नोंको नाश करनेके कारण व (महाकल्याण सम्पत्तिकारिणे) महाकल्याणरूप शिवसम्पदाके कारण (अरिष्टनेमये) श्री अरिष्टनेमि बाईसवें तीर्थंकरको (नमः) नमस्कार हो।

भावार्थ–श्री नेमिनाथ भगवानकी भक्ति प्रदर्शित करते हुए कुलभद्राचार्यने सारसमुच्चय ग्रन्थका निर्माण किया है अतएव अंतमें उन्होंने श्री नेमिनाथजीको ही नमस्कार किया है।

पाठान्तर–१. प्रशमं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दोहा

मंगल श्री अरहंत हैं, मंगल सिद्ध महान।
मंगल सूरि उवझाय हैं, मंगल साधु प्रमान॥

इति श्रीमत्कुलभद्राचार्यविरचित
सारसमुच्चय-ग्रन्थ समाप्त

अनुवादककी प्रशस्ति

दोहा

गुडगांवा फर्रुखनगर, है विख्यात सुथान।
अग्रवाल शुभ वंशमें, गोयल गोत्र महान॥१॥

पृथ्वीराज गृहस्थ हैं, जैनधर्म लवलीन।
पेडा बाँटे नगरमें, नाम सभी रखदीन॥२॥

सुत ज्वालापरसाद हैं, ता सुत इन्दरराज।
ता सुत हैं रायसिंहजी, चले सुवाणिज काज॥३॥

आये लक्ष्मणपुर बसे, हुए धनी व्यापार।
ता सुत मंगलसैनजी, हैं विद्वान अपार॥४॥

ता सुत मक्खनलालजी, तिनके सुत दो आज।
संतलालजी प्रथम हैं, तृतिय जु सीतल साज॥५॥

विद्या पढ गार्हस्थमें, बत्तिस वय उलझाय।
चित उदास श्रावक भये, भ्रमत धर्म लव लाय॥६॥

उन्निससौपर बानवे, विक्रम संवत आय।
लक्ष्मणपुर वासा किया, वर्षामें सुखदाय॥७॥

जैन दिगम्बर घर यहाँ, शत संख्या अनुमान।
साधत धर्म सुप्रेमसे, मानंत श्री जिन आन॥८॥

चौक गंज अहिया तथा, गंज सआदत जान।
डालिगंज चार्वागमें, मन्दिर षष्ठ प्रमान॥९॥

गृह चैत्यालय तीन हैं, बालक शाला जान।
औषधिशाला एक है, जैन बाग सुखदान॥१०॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

साधुजनोंके संगमें, रहा धर्म रस चाख ।
ग्रंथ लिखनमें कालको, सफल किया हित राख ॥११॥

श्री कुलभद्र महान हैं, ज्ञाता श्रुत आधीश ।
सारसमुच्चय ग्रंथको, लिखा परम गुणईश ॥१२॥

तिसकी भाषा वचनिका, हुई गुरु परसाद ।
पढो पढावो भव्यजन, पावो आत्मप्रसाद ॥१३॥

सफल करो नरजन्मको, जैनधर्म रस लेय ।
हो पवित्र यह आतमा, कर्म संग तज देय ॥१४॥

भादों सुदि दोयज दिना, शनीवार दुखहार ।
संवत उन्निस बानवे, टीका लिखी उदार ॥१५॥

भूलचूक कुछ होय तो, विद्वज्जन अरदास ।
क्षमा करो शोधो सही, कहे सुखोदधि दास ॥१६॥

सत्तावन वय धारता सीतल जिनका दास ।
पूर्ण आयु तक धर्म जिन, करूँ हृदय पुटवास ॥१७॥

इति श्रीमद् कुलभद्राचार्यविरचित
सारसमुच्चय ग्रन्थ समाप्त

पुस्तक सं. 4846
दिनांक..................

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अकारादि क्रमसे श्लोक–सूची

श्लोक चरण	श्लोक/पृष्ठाङ्क
अ	
अक्षाण्येव स्वकीयानि	७९-४२
अक्षाश्वान्निश्चलं धत्स्व	७८-४१
अग्निना तु प्रदग्धानां	९२-४९
अचिरेणैव कालेन	१७७-८८
अज्ञानावृत्तचित्तानां	२५३-१२०
अज्ञानाद्यदि मोहात्	१७६-८७
अज्ञानी क्षिपयेत्कर्म	१८८-९३
अज्ञे हि बाधते दुःखं	३०६-१४८
अतीतनापि कालेन	४६-२५
अधुना तत्त्वया प्राप्तं	१४-८
अधुना तां समासाद्य	२९८-१३८
अनादिकालजीवेन	४८-२६
अनेकशस्त्वया प्राप्ता	१४१-७२
अब्रह्मचारिणो नित्यं	१३९-७१
अयं तु कुलभद्रेण	३२५-१४९
अर्थो मूलमनर्थानाम्	२३६-११३
अल्पायुषा नरेणेह	६६-३५
असेवनमनङ्गस्य	११४-५९
असेवेच्छानिरोधस्तु	११६-६०
अहंकारो हि लोकानां	२९४-१३६
अहो ते धिषणाहीना	९९-५२
अहो ते सुखितां प्राप्ता	१२५-६५
अहो मोहस्य माहात्म्यं	२१-१२
आ	
आग्रहो हि शमे येषां	२००-९८
आत्मकार्यं परित्यज्य	१५७-६९
आत्मतत्त्वं न जानन्ति	५३-२८
आत्मना यत्कृतं कर्म	१३३-६८
आत्माधीनं तु यत्सौख्यं	३०१-१३९
आत्मानं भावयेन्नित्यं	५-४
आत्मानं विनयाभ्यासे	२२७-१०९
आत्मानं स्नापयेत् नित्यं	३१४-१४५
आत्मानं सततं रक्षेत्	१५-९
आत्माभिलाषरोगाणां	८३-४४
आत्मायत्तं सुखं लोके	३०३-१४०
आत्मा यस्य वशे नास्ति	३००-१३९
आत्मा वै सुमहत्तीर्थं	३११-१४४
आपस्तु सम्पतन्तीषु	१७१-८५
आपदो हि महाघोराः	२७८-१३०
आयुर्यस्यापि देवज्ञैः	६७-३६
आर्त्तध्यानरतो मूढो	३-३
आर्त्तरौद्रपरित्यागाद्	२२६-१०८
इ	
इन्द्रियप्रभवं सौख्यं	७७-४१
इन्द्रियप्रसरं रुद्ध्वा	१३४-६९
इन्द्रियाणां जये शूराः	२१४-१०३
इन्द्रियाणां यदा छन्दे	८०-४२
इन्द्रियाणां शमे लाभं	८४-४४
इन्द्रियाणि प्रवृत्तानि	८१-४३
इन्द्रियाणि वशे यस्य	८५-४५
इन्द्रियेच्छारुजामज्ञः	८२-४३
इयं सा मदनज्वाला	१२२-६३
ई	
ईदृशं श्रमणं दृष्ट्वा	२२२-१०५
ईश्वरो नाम सन्तोषी	२४४-११७

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्लोक चरण	श्लोक/पृष्ठाङ्क
उ	
उत्तमे जन्मनि प्राप्ते	४७-२५
उपवासोऽवमौदर्यं	११५-६०
ए	
एतज्ज्ञानफलं नाम	११-७
एतदेव परं ब्रह्म	१६४-८२
एते हि रिपवो चौरा	२३-१३
एवं विधमिदं कष्टं	१४९-७५
एवं विधं हि यो दृष्ट्वा	२०७-१००
औ	
औदारिकशरीरेऽस्मिन्	३१६-१४६
क	
कथं ते भ्रष्ट सद्वृत्ता	१३०-६७
कथं न रमते चित्तं	५५-२९
कथं नो द्विजसे मूढ !	१८६-९२
कर्मणां शोधनं श्रेष्ठं	११९-६२
कर्मपाशविमोक्षाय	१८२-९०
कषायकर्षणं कृत्वा	३७-२०
कषायकलुषो जीवो	३१-१७
कषायरहितं सौख्यं	३४-१८
कषायवंशगो जीवो	३२-१७
कषायविषयार्त्तानां	२८-१५
कषायविषयैश्चित्तं	३३-१८
कषायविषयैश्चौरैः	३६-१९
कषायविषयै रोगैः	२९-१६
कषायातापतप्तानां	३८-२०
कषायान् शत्रुवत् पश्येत्	३५-१९
कामक्रोधस्तथा मोहः	२६-१४
कामक्रोधस्तथा लोभो	२२-१२
कामदाहः सदा नैव	१११-५८

श्लोक चरण	श्लोक/पृष्ठाङ्क
कामदाहो वरं सोढुं	११०-५७
काममिच्छानिरोधेन	११७-६१
कामार्थौ वैरिणो नित्यं	१०९-५७
कामहिदृढदष्टस्य	९५-५०
कामी त्यजति सद्वृत्तं	१०७-५६
किम्पाकस्य फलं भक्ष्यं	८९-४७
कुसंसर्गः सदा त्याज्यो	२६९-१२७
कृमिजालशताकीर्णे	१२४-६४
कृमितुल्यैः किमस्माभिः	१३७-७०
को वा तृप्तिं समायातो	३१०-१४३
को वा वित्तं समादाय	२३८-११४
क्रोधेन वर्धते कर्म	२८६-१३३
ग	
गर्भवासेऽपि यद्दुःखं	१८४-९१
गुणाः सुपूजिता लोके	२७३-१२८
गुरुशुश्रूषया जन्म	१९-११
गृहाचारकुवासेऽस्मिन्	१८३-९०
च	
चतुरशीतिलक्षेषु	१८५-९२
चतुर्गतिनिबन्धेऽस्मिन्	१४८-७४
चारित्रं तु समादाय	२७६-१२९
चित्तरत्नमसंक्लिष्टं	१६९-८४
चित्तसंदूषणाः कामः	१०३-५४
चित्रं नरकतिर्यक्षु	२६४-१२५
चिरं गतस्य संसारे	२९७-१३८
चिरं सुपोषितः कायो	१५४-७७
छ	
छित्वा स्नेहमयांन् पाशान्	२०-११
ज	
जन्मान्तरार्जितं कर्म	४४-२४

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0:In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्लोक चरण	श्लोक/पृष्ठाङ्क
जरामरणरोगानां	४३-२४
जातेनावश्यमर्तव्यं	१५६-७८
जिनैर्निगदितं धर्मं	६८-३६
जीवितं विद्युता तुल्यं	१५०-७५
जीवितेनापि किं तेन	१८९-९४
त	
तथा च सत्तपः कार्यं	६-४
तथानुष्ठेयमेतद्धि	१६५-८२
तप्ततैलिकभल्लीषु	१४३-७२
तस्मात्कामः सदा हेयो	१०८-५६
तस्मात्कुरुत सद्वृत्तं	१०२-५३
तस्मिन्नुपशमे प्राप्ते	११८-६१
तिर्यग्गतौ च यद्दुःखं	१४६-७४
तृणतुल्यं परद्रव्यं	३२३-१४९
तृष्णान्धा नैव पश्यन्ति	२३९-११४
तृष्णानलप्रदीप्तानां	२४१-११५
त्यज कामार्थयो संगं	१२९-६६
द	
दयाङ्गना सदा सेव्या	२५९-१२३
दुःखस्य भीरवोऽप्येते	५४-२९
दुःखं न शक्यते सोढुं	५६-३०
दुःखानामाकरो यस्तु	९६-५१
दुष्टा येयमनङ्गेच्छा	९८-५२
देवदेवं जिनं नत्वा	१-२
देहं दहति कामाग्निः	२८५-१३३
दोषाणामाकरः कामो	१०४-५४
द्रव्याशां दूरतस्त्यक्त्वा	२४३-११६
ध	
धनहीनोऽपि शीलाढ्यः	२८०-१३०
धनहीनोऽपि सद्वृत्तो	२८३-१३१
धन्यास्ते मानवा नित्यं	२९२-१३५
धन्यास्ते मानवा लोके	१६६-८३
धर्मकार्ये मतिस्तावद्	६०-३२
धर्म एव सदा कार्यो	५८-३१
धर्म एव सदा त्राता	७२-३८
धर्ममाचर यत्नेन	६१-३३
धर्मस्य संचये यत्नं	१९३-९६
धर्मामृतं सदा पेयं	६३-३४
धीराणामपि ते धीरा	२०९-१०१
धृतिभावनया दुःखं	१९९-९८
धृतिभावनया युक्ता	१९८-९७
न	
नमः परमसद्ध्यान	३२८-१५०
नरकावर्त्तपातिन्यः	१२३-६४
नादत्तेऽभिनवं कर्म	२११-१०२
नानायंत्रेषु रौद्रेषु	१४४-७३
नायातो बन्धुभिः सार्धं	१५५-७८
नास्ति कामसमो व्याधिः	२७-१५
निःसंगिनोऽपि वृत्ताढ्या	२०१-९९
निन्दास्तुतिसमं धीरं	२०५-१००
नियतं प्रशमं याति	११३-५९
निरवद्यं वदेद्वाक्यं	३२०-१४८
निर्ममत्वं परं तत्त्वं	२३४-११२
निर्ममत्वे सदा सौख्यं	२३५-११२
नूनं नात्मा प्रियस्तेषां	२३०-११०
नृजन्मनः फलं सारं	७-५
नो संगाज्जायते सौख्यं	३०४-१४०
प	
पण्डितोऽसौ विनीतोऽसौ	४२-२३
परनिन्दासु ये मूका	८६-४५

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्लोक चरण	श्लोक/पृष्ठाङ्क
परं च वंचयामिति	१८०-८९
परं ज्ञानफलं वृत्तं	३०७-१४२
पराधीनं सुखं कष्टं	३०२-१४०
परिग्रहपरिष्वङ्गात्	२५४-१२१
परिग्रहे महाद्वेषो	१९२-९५
परीषहजये शक्तं	२०३-१००
परीषहजये शूराः	२१०-१०२
परीषह महारातिवन	२१५-१०३
परोऽप्युत्पथमापन्नो	१७५-८७
पंचतासन्नतां प्राप्तं	१८१-९०
पिशाचेनैव कामेन	१०५-५५
पुनश्च नरके रौद्रे	१४२-७२
पूर्वकर्मविपाकेन	३०५-१४१
प्रज्ञाङ्गना सदा सेव्या	२५८-१२२
प्रज्ञा तथा च मैत्री च	२६७-१२६
प्रमादं ये तु कुर्वन्ति	२९९-१३८
प्राणान्तिकेऽपि सम्प्राप्ते	८७-४६
प्राप्तोज्झितानि वित्तानि	२३७-११३
प्रशान्तमानसं सौख्यं	२०४-१००
प्रियवाक्यप्रदानेन	३२१-१४८
भ	
भयं याहि भवाद्भीमात्	२६८-१२६
भवभोगशरीरेषु	१२७-६५
भुक्त्वाऽप्यनन्तरं भोगान्	७५-४०
भोगार्थी यो करोत्यज्ञो	१२६-६५
म	
मदनोऽस्ति महाव्याधिः	९३-४९
मनस्याह्लादिनी सेव्या	२६५-१२५
मनोवाक्काययोगेषु	१९७-९७
ममत्वाज्जायते लोभो	२३३-१११
मलैस्तु रहिता धीरा	२१७-१०४
मानस्तंभं दृढं भंक्त्वा	१९४-९६
मायां निरासिकां कृत्वा	२०८-१०१
मिथ्यात्वं परमं बीजं	५२-२८
मृता नैव मृतास्ते तु	६२-३३
मैत्र्यङ्गना सदोपास्या	२६०-१२३
य	
यत्परित्यज्य गन्तव्यं	२२९-१०९
यत्त्वया क्रियते कर्म	७४-३९
यत्त्वया न कृतो धर्मः	७३-३९
यत्त्वयोपार्जितं कर्म	१८७-९३
यथा च कुरुते जन्तुः	२५२-१२०
यथा च जायते चेतः	१६१-८०
यथाख्यातं हितं प्राप्य	१९५-९६
यथा संगपरित्यागः	२२८-१०९
यदा कण्ठगतप्राणो	६५-३५
यदा चित्तविशुद्धिः स्यात्	१७४-८६
यदि नामाप्रियं दुःखं	७०-३७
या चैषा प्रमदा भाति	१२०-६२
यावत् स्वास्थ्यं शरीरस्य	१७-१०
यावदस्य हि कामाग्नि	९४-५०
यावन्न मृत्युवज्रेण	१२८-६६
ये भक्त्या भावयिष्यन्ति	३२६-१५०
ये हि जीवादयो भावः	२५१-१२०
येन ते जनितं दुःखं	१३८-७०
येन संक्षीयते कर्म	१४०-७१
यैर्ममत्वं सदा त्यक्तं	२०२-९९
यैः सन्तोषामृतं पीतं	२४६-११७
यैः सन्तोषामृतं पीतं तृष्णा	२४७-११८

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्लोक चरण	श्लोक/पृष्ठाङ्क
र	
रागद्वेषमयो जीवः	२४-१३
रागद्वेषविनिर्मुक्तं	२०६-१००
रागद्वेषौ महाशत्रू	२९६-१३७
रागादयो महादोषाः	२७२-१२७
रागादिवर्जितं स्नानं	३१३-१४५
रागादिवर्द्धनं संगं	२२३-१०६
राजसूयसहस्राणि	२५६-१२१
रोषे रोषं परं कृत्वा	१९१-९५
व	
वरं तत्क्षणतो मृत्युः	२७९-१३०
वरं नरकवासोऽपि	३९-२१
वरं शत्रुगृहे भिक्षा	२८१-१३१
वरं सदैव दारिद्र्यं	२८२-१३१
वरं हालाहलं मुक्तं	७६-४०
वर्धमानं हि तत्कर्म	१७८-८८
वादेन बहवो नष्टा	२९३-१३६
विण्मूत्रपूरिते भीमे	१४५-७३
विद्यमाने रणे यद्वत्	२८८-१३४
वियोगा बहवो दृष्टा	१६०-८०
विवादो हि मनुष्याणां	२९१-१३५
विशुद्धपरिणामेन	१७२-८६
विशुद्धं मानसं यस्य	१६२-८१
विशुद्धादेव संकल्पात्	७१-३८
विषयास्वादलुब्धेन	१३२-६८
विषयोरगदष्टस्य	३०-१६
वैराग्यभावनामंत्रैः	१०६-५५
व्रतं शीलतपोदानं	३२२-१४८
श	
शक्रचापसमा भोगाः	१५१-७६
शत्रुभावस्थितान् यस्तु	२९०-१३५
शमं नयन्ति भूतानि	२६२-१२४
शमो हि न भवेद्येषां	२६३-१२४
शरीरमात्रसङ्गेन	२३१-११०
शीलरत्नं हतं यस्य	१६-१०
शीलव्रतजले स्नातुं	३१२-१४४
शीलसंधारिणां पुंसां	२७७-१२९
शुद्धे तपसि सद्वीर्यं	१८-११
श्रुतं व्रतं शमो येषां	३०९-१४३
ष	
षट्खण्डाधिपतिश्चक्री	१३६-६९
स	
स जातो येन जातेन	१९०-९४
स धर्मो यो दयायुक्तः	६४-३४
सत्सङ्गो हि बुधैः कार्यः	२७०-१२७
सत्येन शुद्ध्यते वाणी	३१७-१४६
सद्गुणैः गुरुतां याति	२७४-१२८
सद्वृत्तः पूज्यते देवैः	२७५-१२९
सद्वृत्तभ्रष्टचित्तानां	१३१-६७
सप्तभीस्थानमुक्तानां	२२५-१०७
समः शत्रौ च मित्रे च	२२०-१०५
समतां सर्वभूतेषु	२१३-१०३
समानवयसो दृष्ट्वा	१५२-७६
सम्पन्नेष्वपि भोगेषु	१३५-६९
सम्यक्त्वज्ञानसम्पन्नो	२५-१४
सम्यक्त्वभावना शुद्धं	२२१-१०५
सम्यक्त्वभावशुद्धेन	५०-२७
सम्यक्त्वं परमं रत्नं	४०-२१
सम्यक्त्वं भावयेत् क्षिप्रं	४५-२४
सम्यक्त्वं समतायोगो	३२४-१४९

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्लोक चरण	श्लोक/पृष्ठाङ्क
सम्यक्त्वादित्यसंभिन्नं	४९-२६
सम्यक्त्वेन हि युक्तस्य	४१-२३
सर्वद्वन्द्वं परित्यज्य	१२-८
सर्वसङ्गान् पिशुन कृत्वा	२५५-१२१
सर्वसत्त्वे दयां मैत्रीं	२६१-१२४
सर्वाशुचिमये काये नश्वरे	१५३-७७
सर्वाशुचिमये काये	३१५-१४६
संकल्पाच्च समुद्भूतः	९७-५१
संक्लिष्टचेतसां पुंसां	१७३-८६
संक्लेशपरिणामेन	१६८-८४
संक्लेशो न हि कर्तव्यः	१६७-८३
संगात्संजायते गृद्धिः	२३२-१११
संगादिरहिता धीरा	१९६-९७
संतुष्टा सुखिनो नित्यं	२४२-११६
संतोषसारसद्रत्नं	२४०-११५
संतोषं लोभनाशाय	२४८-११८
संपत्तौ विस्मिता नैव	१७०–८४
संमानयति भूतानि	८८-४६
संयोगमूलजीवेन	२५०-११९
संवेगः परमं कार्यं	३०८-१४२
संसारध्वंसनं प्राप्य	५१-२७
संसारध्वंसने हीष्टं	१६३-८१
संसारध्वंसिनी चर्यां	२१६-१०४
संसारस्य च बीजानि	१२१-६३
संसारावासनिर्वृत्ताः	२१२-१०२
संसारावासभीरूणां	२१९-१०५
संसारे पर्यटन् जंतुः	२-२
संसारोद्विग्न चित्तानां	२२४-१०७
संसृतौ नास्ति तत्सौख्यं	१४७-७४
साधूनां खलसंगेन	२७१-१२७
सा प्रज्ञा या शमे याति	२५७-१२२
सामग्रीं प्राप्य सम्पूर्णां	३१९-१४७
सारसमुच्चयमेतद्ये	३२७-१५०
सुकृतं तु भवेद्यस्य	५७-३०
सुखभावकृता मूढाः	१७९-८९
सुखरात्रिर्भवेत्तेषां	२८४-१३२
सुखसंभोगसंमूढाः	१५९-८०
सुतीव्रेण कामेन	११२-५८
सुदृष्ट मनसा पूर्वं	२८७-१३४
स्त्रीसम्पर्कसमं सौख्यं	९०-४८
स्मराग्निना प्रदग्धानि	९१-४१
स्मरेण स्मरणादेव	१०१-५३
स्मरेणातीवरौद्रेण	१००-५३
स्वर्गमोक्षोचितं नृत्वं	३१८-१४७
स्वहितं तु भवेज्ज्ञानं	१५८-७९
स्वहितं यः परित्यज्य	२८९-१३४
ह	
हितं कर्म परित्यज्य	६९-३७
हीनयोनिषु बंभ्रम्य	२९५-१३७
हृदयं दह्यतेऽत्यर्थं	२४५-११७
क्ष	
क्षणेऽपि समतिक्रान्ते	५९-३२
क्षमया क्षीयते कर्म	२६६-१२५
ज्ञ	
ज्ञानदर्शनसम्पन्न	२४९-११९
ज्ञानध्यानोपवासैश्च	८-६
ज्ञानभावनया जीवो	४-४

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्लोक चरण	श्लोक/पृष्ठाङ्क
ज्ञानभावनया सिक्ता	२१८-१०४
ज्ञानं नाम महारत्नं	१३-८
ज्ञानादित्यो हृदिर्यस्य	१०-७
ज्ञानाभ्यासः सदा कार्यो	९-६

टिप्पणमें आये श्लोक

कर्मणा मोहनीयेन	पृष्ठ १२
कर्मणां ध्वंसने चित्तं	पृष्ठ १२५
दर्शने हरते चित्तं	पृष्ठ ६२
स्वल्पेनैव कालेन	पृष्ठ ८८

5846.E

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi